

## सम्पादकीय

जब हम अपने राष्ट्र के सन्दर्भ में चर्चा करते हैं, तो हमारी दो तरह की प्रतिक्रिया होती है— प्रथम यह कि हमारा देश आध्यात्मिक देश है। इसी कारण हमारी धर्म—संस्कृति अनेकों आक्रमणों के दुष्परिणामों के बाद भी जीवन्त है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि निश्चित ही एक दिन भारत वर्ष जगद्गुरु बनेगा। दूसरी प्रतिक्रिया हम यह भी करते हैं कि हमारा राष्ट्र जातिभेद, हिंसा, भ्रष्टाचार एवं अराजकता का शिकार होता जा रहा है। देश का शासक वर्ग अपराध एवं जातिभेद के आधार पर शासन कर रहा है। गरीब और गरीब तथा अमीर और अधिक आर्थिक सम्पन्न होता जा रहा है।

हमारी उपर्युक्त दोनों प्रतिक्रियायें आदर्श तथा यथार्थ को उद्घाटित करती हैं। प्रश्न उठता है कि हम यह क्यों नहीं सोचते कि हमारा आदर्श कैसे यथार्थ का रूप प्राप्त करे? हमारे अन्दर अपने इतिहास पुरुषों की भाँति क्यों नहीं राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत होती? यदि १८५७ से १९४७ तक के स्वतंत्रता संग्राम के नायकों की भाँति हममें अपने अतीत के गौरव को प्राप्त करने की प्रेरणा होती तो हम इस वर्ष प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की १५० वीं वर्षगांठ एक उत्तम गौरवशाली राष्ट्र और एक सभ्य मानवोचित समाज के विकसित रूप में मनाते। हमारे स्वतंत्रता संग्राम के बलिदानियों ने सैकड़ों वर्ष की गुलामियत से मुक्त कर हमारे हाथों एक स्वतंत्र देश को सौंपा। हम चाहते तो स्वतंत्रता के बाद अपने देशवासियों में सच्चरित्रता और राष्ट्रीयता की भावना पैदा कर विश्वपटल पर एक गौरवशाली विकसित देश के रूप में अपना स्थान बना सकते थे। लेकिन हम ऐसा करने में पूर्णतः असफल सिद्ध हुए। हमें इस सच्चाई को स्वीकार करना चाहिए कि हमारे राष्ट्र में जितना भी मूल्य—संकट विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ रहा है, इसके कारण हम या हमारे पूर्वज ही हैं। यदि हमारे पूर्वजों ने १९४७ में प्राप्त स्वतंत्रता को नैतिक आधार पर राष्ट्रहित में उपयोगी बनाया होता तो हमें एक मूल्यनिष्ठ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था विरासत में प्राप्त होती। अब समय अपने पूर्वजों या अन्य किसी पर आक्षेप लगाकर अपने कर्तव्यों से मुक्त होने का नहीं अपितु अपनी दूरदृष्टि, विवेक शक्ति का रचनात्मक उपयोग कर समाधान खोजने का है। हमारे सहयोगियों ने मिलकर मूल्य—संकट से उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु एक पहल की है। इस सकारात्मक पहल के साथ जुड़कर आप भी अपने राष्ट्र को गौरवशाली बनाने में योगदान दे सकते हैं। आइये हम मिलकर एक राष्ट्रीय चरित्र निर्माण हेतु अपने आप से, अपने परिवार से तथा अपने निकटतम सम्बंधियों से एक सशक्त पहल शुरू करें। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि इस सकारात्मक पहल के द्वारा हम अपने अतीत से भी स्वर्णिम भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। मूल्य विमर्श का यह चतुर्थ अंक १५० वर्ष पूर्व राष्ट्र की स्वतंत्रता हेतु शहीद हुए अपने पूर्वजों को समर्पित है।

## लोकतंत्र एवं शिक्षा

डॉ. गोपाल प्रसाद नायक

### लोकतंत्र का अर्थ :

लोकतंत्र एवं शिक्षा का सम्बन्ध समझने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि लोकतंत्र का अर्थ क्या है? अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के शब्दों में लोकतंत्र का अर्थ 'जनता का शासन, जनता द्वारा जनता के लिए है'। (Democracy in the government of the people by the people for the people)

यदि शासन शब्द से हमारा तात्पर्य राजनीतिक व्यवस्था है तो लोकतंत्र एक प्रकार का शासन ही नहीं वरन् जीवन यापन का एक ढंग भी है। बोडे (Bode) महोदय के कथनानुसार लोकतंत्र जीवन यापन की रीति से उनका तात्पर्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करना, चाहे वह राजनीति हो, सामाजिक हो अथवा आर्थिक। राधाकृष्णन विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (१९४८-४९) में इसी विचारधारा का समर्थन मिलता है। रिपोर्ट में लोकतंत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है "लोकतंत्र केवल एक राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं वरन् जीवन-यापन की एक रीति भी है। लोकतंत्र समान अधिकार तथा समान स्वतंत्रता के सिद्धान्तों पर आधारित रहता है।" ये सिद्धान्त किसी जाति विशेष अथवा व्यक्ति विशेष के लिए नहीं वरन् सभी के लिए हैं। प्रजातंत्र केवल एक शासकीय व्यवस्था नहीं है। प्रजातंत्र एक प्रगतिशील विचारधारा है जो केवल शासन के रूप तक सीमित नहीं होती। यह सामाजिक क्षेत्र में भी आ जाती है। सामाजिक व्यवस्था के रूप में लोकतंत्र ऐसा विचार है जो स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुत्व की भावनाओं के आधार पर समाज को गठित करना चाहता है। सामाजिक दृष्टि से सभी नागरिक बराबर हैं। प्रजातंत्र

में समानता को बहुत महत्त्व दिया जाता है। समानता का तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्तियों को अवसर मिले। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुकूल अवसर मिले। जन्म, रंग, जाति एवं धर्म के कारण अथवा किसी दल विशेष का सदस्य होने के नाते कोई व्यक्ति बड़ा अथवा छोटा नहीं समझा जा सकता। सभी नागरिकों को अपनी-अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार अपना कार्य करने एवं कार्य में उन्नति करने की स्वतंत्रता होती है। सबको अपनी बौद्धिक योग्यता के आधार पर पद प्राप्त करने का अधिकार होता है। किसी को भी अधिकारों एवं उन्नति के अवसरों से वंचित नहीं किया जा सकता है। राज्य अथवा समाज द्वारा सबको समान अवसर तथा सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का एक श्रेष्ठ नागरिक बन सके।

यदि हम संसार के इतिहास का अध्ययन करें तो हमें विदित होगा कि अनेक देशों में लोकतंत्र असफल सिद्ध हो गया। अपने पड़ोसी देश पाकिस्तान की उथल-पुथल एवं वहाँ की सैनिक तानाशाही से हम परिचित हैं। अनेक देशों में सैनिक क्रान्तियों के पीछे लोकतंत्र की असफलता छिपी हुई दिखायी पड़ती है। इन देशों में लोकतंत्र के असफल होने के अनेक कारण हो सकते हैं, किन्तु एक बहुत बड़ा कारण यह रहा है कि इन देशों में लोकतंत्र केवल राजनीति तक ही सीमित रहा है। वोट देना, चुनाव में भाग लेना, चुनाव सभाओं का आयोजन करना एवं सत्ता हथियाना जैसे कार्यों तक ही यदि लोकतंत्र सीमित रहा तो वह अवश्य असफल हो जायेगा। यदि देश के नागरिक सुयोग्य हैं उनमें राजनीतिक चेतना है और देश के प्रति अपने कर्तव्य एवं



उत्तरदायित्व को समझते हैं तो वे लोकतंत्र को सफल बना सकते हैं। इसके विपरीत अवस्था में लोकतंत्र के विफल होने की सम्भावना अधिक होती है। अतः नागरिकों में राजनीतिक चेतना भरना और उन्हें अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक करना आवश्यक है। यह कार्य शिक्षा द्वारा ही पूर्ण हो सकता है। प्रस्तुत अध्ययन में इन्हीं बिन्दुओं के आलोक में लोकतंत्र के स्वस्थ विकास में शिक्षा की भूमिका को स्पर्श करने का प्रयास किया गया है।

### लोकतंत्र के मुख्य सिद्धान्त :

लोकतंत्र के मुख्य सिद्धान्त—स्वतंत्रता, समानता बन्धुत्व एवं न्याय हैं।

#### स्वतंत्रता (Freedom) :

स्वतंत्रता के अभाव में मानव अपनी शक्तियों का विकास नहीं कर पाता है। भारतीय लोकतंत्र में नागरिकों को विभिन्न स्वतंत्रताएं दी गयीं हैं, जैसे—वाक् स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने की स्वतंत्रता, कोई वृत्ति, उपजीविका की स्वतंत्रता। व्यक्ति इन स्वतंत्रताओं का उपयोग तभी सफलतापूर्वक कर सकता है जब वह दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों को अपने ही अधिकारों के समान मानेगा।

#### समानता (Equality) :

लोकतांत्रिक दृष्टि से समानता का राजनीतिक पहलू महत्वपूर्ण है। समानता के राजनीतिक रूप का अर्थ यह है कि राजनीतिक व्यवस्था में सभी वयस्क नागरिकों को समान नागरिक और राजनीतिक आधार उपलब्ध हों। राजनीतिक समानता का यह आशय नहीं है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति समान शक्ति का प्रयोग करता हो। इसका अभिप्राय केवल यह है कि प्रत्येक व्यक्ति समान राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग कर सके, अर्थात् सभी व्यक्तियों को समान रूप से शासन में भाग लेने का अवसर मिल जाता है।

समानता का दूसरा पक्ष नागरिक समानता है। उसका तात्पर्य सभी को नागरिकता के समान अवसर प्राप्त होने से होता है। नागरिक समानता की अवस्था में व्यक्ति के मूल अधिकार सुरक्षित होने चाहिए तथा सभी को कानून का संरक्षण समान रूप से प्राप्त होना चाहिए क्योंकि कानून की दृष्टि से यदि धन, पद, धर्म एवं वर्ग के आधार पर भेद होने लगे, तो उससे नागरिक असमानता उत्पन्न हो जायेगी। नागरिक समानता के आधार पर ही सामाजिक समानता लाना सम्भव होता है। आधुनिक युग में समानता का एक और पक्ष महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। यह है आर्थिक समानता। आर्थिक समानता का तात्पर्य यह नहीं है कि सभी के पास समान सम्पत्ति अथवा धन हो। इसका तो केवल इतना तात्पर्य है कि सम्पत्ति तथा धन का उचित वितरण हो जिससे उसके अभाव के कारण किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधा न पड़े।

हर समाज में कुछ ऐसे मूल्य होते हैं जिनकी व्यवस्था ही इसलिए की जाती है कि जिससे समाज उनसे भी श्रेष्ठतर मूल्यों को प्राप्त करने के मार्ग पर आगे बढ़ सके। उदाहरण के लिए व्यक्ति का स्वतंत्रता व सामाजिक समानता में विश्वास ही इसलिए होता है कि इनके सहारे उसके व्यक्तित्व को विकास का सर्वश्रेष्ठ वातावरण प्रस्तुत होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए यह अनिवार्य है कि व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान किया जाय, जिससे हर व्यक्ति अपने ढंग से अपनी पूर्णता के मार्ग पर आगे बढ़ सके। लोकतांत्रिक समाज का यह आदर्श या मूल्य सर्वाधिक महत्त्व का माना जाता है। मनुष्य के विकास में व्यक्तित्व के भौतिक व बाहरी पहलुओं से कहीं अधिक महत्वपूर्ण योगदान उसके आन्तरिक पहलुओं का है। मनुष्य चाहता है कि परिपूर्ण बने। इसके लिए यह आवश्यक है कि

उसके व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान हो। इसके अभाव में व्यक्ति के पास सब कुछ होते हुए भी उसे रिक्तता या कुछ कमी महसूस होती है।

#### **बन्धुत्व (Fraternity) :**

स्वतंत्रता एवं समानता के बीच समन्वय लाने का कार्य बन्धुत्व या भ्रातृत्व करता है। सामाजिक हितों की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि सभी व्यक्ति आपस में सहयोग करें। जब परस्पर प्रेम होता है, तभी सहयोग हो सकता है, अन्यथा पारस्परिक प्रेम के अभाव में सहयोग नहीं होता। जब व्यक्तियों में स्वार्थ के लिए संघर्ष होता है तो स्वतंत्रता एवं समानता के बीच विरोध खड़ा हो जाता है। इसलिए भ्रातृत्व को स्वतंत्रता एवं समानता के सामंजस्य स्थापित करने वाली कड़ी कहा गया है।

#### **न्याय (Justice) :**

लोकतांत्रिक व्यवस्था न्याय पर आधारित होनी चाहिए। लोकतंत्र में न्याय की दृष्टि से अमीर व गरीब निर्बल व शक्तिशाली आदि सभी समान हैं। उनके साथ किसी प्रकार का कानूनी भेदभाव नहीं किया जायेगा।

अनेक राजनीतिक दार्शनिक तो यह मानते हैं कि लोकतांत्रिक प्रणाली ही न्याय की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। वैसे न्याय लोकतंत्र का ऐसा मूल्य है जो अपने आपमें व्यापकतम प्रकृति रखता है। लोकतंत्र में राजनीतिक स्वतंत्रताएं एवं समानताएं हर नागरिक को प्राप्त रहती हैं। इस कारण हर व्यक्ति अन्याय की अवस्था से अपने आपको मुक्त करने के कारगर साधन रखता है। अतः न्याय की व्यवस्था उस समय में स्वतः ही हो जाती है, जहाँ स्वतंत्रता, समानता और व्यक्तिगत व्यक्तित्व सम्मान करने की संस्थागत व्यवस्थाएं होती हैं। लोकतांत्रिक ढंग से लिये गये निर्णयों का आधार खुला विचार विनिमय होता है। लोकतंत्र में निर्णय चाहे किसी भी

स्तर पर लिये जाएं, उनमें जोर जबरदस्ती के बजाय विचार-विमर्श एवं आम सहमति का प्रमुख स्थान होता है। विचार-विमर्श एवं आम सहमति की निर्णय प्रक्रिया में कुछ या अधिकांश लोगों का सम्मिलित होना किसी निर्णय के ढंग को लोकतांत्रिक नहीं बनाता है। इसके लिए निर्णय प्रक्रिया में सारे जन की सहभागिता का होना अनिवार्य है अर्थात् निर्णय लेने में राजनीतिक व्यवस्था के सभी नागरिकों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्मिलित होना आवश्यक है। अगर किसी निर्णय विधि से अधिकांश व्यक्तियों को वंचित रखा गया हो तो वह निर्णय प्रक्रिया लोकतांत्रिक नहीं कही जा सकती। निर्णय प्रक्रिया में सम्पूर्ण समाज को सहभागी बनाने का दूसरा नाम ही लोकतंत्र है। लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक है कि एक सीमा तक विचार-विमर्श व वाद-विवाद की छूट रहे और अन्त में बहुमत के आधार पर निर्णय ले लिये जाएं तथा बहुमत द्वारा लिये गये ऐसे निर्णय सब स्वीकार कर लें अर्थात् लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया वस्तुतः विचार-विमर्श, वाद-विवाद एवं सामंजस्य की ही प्रक्रिया है। लोकतंत्र में शासकों को सत्ता, जनता की धरोहर के रूप में प्राप्त रहती है तथा इस सत्ता का उन्हें जनता के हित में, जनता की उन्नति व प्रगति के लिए ही प्रयोग करना होता है। केवल वही राजनीतिक समाज लोकतांत्रिक माने जाते हैं, जहाँ शासक निरन्तर उत्तरदायित्व निभाते हैं। लोकतंत्र में हर व्यक्ति को राजनीतिक स्वतंत्रता रहती है। वह समाज के हितों की रक्षा के लिए किसी भी दल का सदस्य बन सकता है, तथा किसी भी व्यक्ति को अपने प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित करने के लिए मत दे सकता है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि लोकतंत्र वास्तव में जीवन जीने का एक तरीका है।

#### **लोकतंत्र एवं शिक्षा में संबंध :**

लोकतंत्र का आदर्श है कि व्यक्ति और



समाज एक दूसरे की सहायता से पूर्णता को प्राप्त करें। लोकतंत्र न तो समाज द्वारा व्यक्ति के शोषण और न व्यक्ति द्वारा समाज के हितों की अवहेलना की आज्ञा देता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लोकतंत्र का कार्य समाज को इस प्रकार संगठित करना है जिससे व्यक्ति समाज के लिए हितप्रद कार्यों द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। अतः लोकतंत्र में शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जा सकती है, क्योंकि शिक्षा ही व्यक्ति में ज्ञान, रुचियों, आदर्शों और शक्तियों का विकास करती है। लोकतंत्र की सफलता के लिए सबसे आवश्यक बात शिक्षा और उच्च कोटि की राजनैतिक चेतना है। यदि लोगों को राज्य के कार्यों में रुचि नहीं है और वे समाज की समस्याओं को नहीं समझते हैं तो लोकतंत्र केवल नाम के लिए होता है। लोकतंत्र में जितने भी दोष बताये जाते हैं उन सबका प्रमुख कारण शिक्षा का अभाव है।

जॉन ड्यूवी ने कहा था— *“शिक्षा के अभाव में लोकतंत्र लंगड़ा, निर्जीव तथा लचीला है और लोकतंत्र के अभाव में शिक्षा नीरस तथा मृतप्राय है।”* शिक्षा ही लोकतंत्र के नागरिकों को जागरूक बनाती है और राज्य के कार्यों में उनकी रुचि उत्पन्न करती है।

राधाकृष्णन रिपोर्ट (१९४८-४९) के अनुसार लोकतंत्र के ह.प्र में शिक्षा ही सबसे बड़ी युक्ति है जिसके द्वारा वह नागरिकों को सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति दिलाता है और उनके बीच समानता का भाव बनाये रखता है। साथ ही साथ प्रजातंत्र इस बात का प्रयत्न करता है कि न तो समाज व्यक्ति का शोषण करे और न व्यक्ति समाज हित की अवहेलना करे। व्यक्ति अपना विकास करते हुए समाज हित में लीन रहे। यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति में शिक्षा द्वारा आवश्यक रुचियों, आदर्शों तथा मनोवृत्तियों का विकास किया जाय। अतः

प्रजातंत्र में शिक्षा की अवहेलना नहीं की जा सकती है।

प्रजातांत्रिक दृष्टि से यह आवश्यक है कि हमारे भावी नागरिक हमारी संस्कृति, सभ्यता, कला एवं ज्ञान से परिचित हों जिससे वे समय आने पर इनके स्थायित्व एवं विकास में अपना योगदान कर सकें। यह कार्य शिक्षा द्वारा ही पूर्ण होता है। शिक्षा ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हमारी संस्कृति का संरक्षण तथा उसका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण किया जा सकता है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का संतुलित एवं सर्वांगीण विकास करना है। साथ ही साथ उसके चरित्र का भी निर्माण करना है, जिससे कि वह एक योग्य, चरित्रवान एवं सामंजस्य पूर्ण व्यक्तित्व वाला व्यक्ति बन सके और अपने जीवन के सभी कार्य उदारता, निष्पक्षता, ईमानदारी एवं कुशलता से कर सके। यह तभी सम्भव है जब शिक्षा द्वारा व्यक्ति की चिन्तन शक्ति, तर्कशक्ति, सूझ-बूझ आदि का विकास हो।

लोकतंत्र के मुख्य आदर्श सिद्धान्त—स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुत्व हैं। बहुत से देशों ने इन्हीं आदर्शों पर अपनी-अपनी सरकारों का गठन किया। भारत ने इन तीनों में न्याय का आदर्श और जोड़ दिया और इन चारों आदर्शों के आधार पर अपनी प्रजातन्त्रीय सरकार का गठन किया और घोषणा की गई कि भारत स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व तथा न्याय के आधार पर लोकतंत्र को प्राप्त करेगा। इन आदर्शों की प्राप्ति शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। प्रजातंत्र तभी सफल हो सकता है जब राष्ट्र के सभी नागरिक शिक्षित हों और सभी को शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार प्राप्त हो। इस दृष्टि से हमारे संविधान ने पैतालीसवीं धारा के अन्तर्गत सभी राज्यों को यह आदेश दिया है कि वे संविधान के लागू होने की तारीख से दस साल के अंदर १४ वर्ष तक के सभी बालकों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य

शिक्षा का प्रबन्ध करें।

महात्मा गांधी (१९४७) ने यह बात स्पष्ट रूप से कही थी कि देश की उन्नति एवं प्रजातंत्र के स्थायित्व के लिए हमें अपने देश के नागरिकों को अज्ञानता एवं निरक्षरता से मुक्त करना पड़ेगा। यह कार्य बिना सार्वभौमिक शिक्षा के पूर्ण न हो सकेगा। यद्यपि भारतीय सरकार जनतंत्र की सफलता के लिए प्रयत्नशील है, परन्तु अभी तक जनतंत्रीय आदर्शों की जड़े जम नहीं सकी हैं। जिसके कारण जनतंत्र जितना सफल होना चाहिए था, उतना नहीं हो सका। हमें जिस सुख एवं शान्ति की आशा थी वह नहीं मिली है। इसके विपरीत द्वेष, ईर्ष्या, असहयोग, निर्धनता, असमानता, भ्रष्टाचार आदि में वृद्धि हुई है।

लोकतंत्र की असफलता के अनेक कारण हैं। प्रथम—मुख्य कारण अशिक्षा एवं अज्ञानता है। शिक्षा जनतंत्र की रीढ़ की हड्डी है। अशिक्षित व्यक्तियों से लोकतंत्र की रक्षा नहीं हो सकती। अशिक्षित होने के कारण जनता लोकतंत्र का अर्थ एवं मतदान के महत्त्व को नहीं समझती। स्वतंत्र रूप से न विचार कर सकती और न निर्णय ले सकती है। वह अपनी रोटी-दाल की समस्या दूर करने में लगी रहती है। शिक्षा के अभाव के कारण उनका व्यवहार जनतंत्र की भावनाओं के अनुकूल नहीं होता। लोकतंत्र की असफलता का दूसरा मुख्य कारण आर्थिक असमानताएँ हैं। जब तक ये असमानताएँ दूर नहीं होंगी तब तक वर्ग भेद समाप्त नहीं होगा। जब तक वर्ग भेद रहेंगे, वर्ग संघर्ष रहेगा और लोकतंत्र सफल नहीं होगा, इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी हैं, जैसे— क्षेत्रीयता, जातीयता एवं साम्प्रदायिकता आदि।

शिक्षा और लोकतंत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपयुक्त शिक्षा के अभाव में लोकतंत्र की सफलता संदिग्ध है। लोकतंत्र जनमत पर आधारित है और जनमत को प्रबुद्ध बनाना शिक्षा का कार्य है। यदि

लोग शिक्षित हैं, यदि वे स्वतंत्र रूप से विचार कर सकते हैं और अपने विचारों को स्वतंत्र रूप से व्यवहार में उतार सकते हैं तो लोकतंत्र सफल होगा। यदि लोग सत्य और असत्य में भेद कर सकते हैं और विचार की यथार्थता को समझ सकते हैं तो लोकतंत्र का संचालन सफलतापूर्वक किया जा सकता है। यह सब कार्य शिक्षा द्वारा सम्भव है। लोगों में इस प्रकार की क्षमता का विकास करना शिक्षा का कार्य है। अतः लोकतंत्र की सफलता के लिए शिक्षा में उपयुक्त परिवर्तन लाना है।

जॉन ड्यूवी का मत है कि जिस प्रकार शरीर को कायम रखने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार समाज के अस्तित्व के लिए शिक्षा अनिवार्य है। शिक्षा का प्रारम्भ उस समय होता है जब बालक प्रजाति की सामाजिक चेतना में सक्रिय रूप से भाग लेता है। अतः उसने शिक्षा के महत्त्वपूर्ण साधन—विद्यालय को एक सामाजिक संस्था माना, जिसमें प्रजाति की सामाजिक चेतना को स्थान प्रदान किया जा सके। इस सामाजिक संस्था में बालक एक दूसरे के अधिकारों, विचारों एवं व्यक्तियों का आदर करना तथा अपने कर्तव्यों का समझदारी के साथ निर्वहण करना सीखते हैं। इसके अतिरिक्त यह संस्था बालक को उन सामाजिक क्रियाओं में प्रशिक्षित करती है, जो वर्तमान सामाजिक जीवन में प्रचलित हैं। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया होने के कारण विद्यालय सामान्यतः सामुदायिक जीवन का वह स्वरूप है जिसमें वे समस्त साधन केन्द्रित होते हैं जो बालक की शक्तियों को सामाजिक हितों के लिए उपयोग में लाने को तैयार करते हैं।

लोकतंत्र में विद्यालयों का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। विद्यालय समाज का दर्पण ही नहीं, उसका मार्गदर्शक भी होता है। समाज की परम्पराओं को वह प्रतिबिम्बित तो करता ही है, साथ में उन



परम्पराओं की आलोचना करके सही एवं उचित को अपनाने और अनुचित एवं अनुपयोगी को समाप्त करने का परामर्श देकर वह समाज का पथ-प्रदर्शन भी करता है। विद्यालय में रंग, जाति, आदि के आधार पर भेद भाव नहीं होना चाहिए क्योंकि जब तक सभी जाति एवं वर्ग के बालकों को विद्यालय में समान रूप से सुविधा नहीं मिलती, तब तक समानता का उद्देश्य अप्राप्य ही बना रहेगा। राजनैतिक दलों को विद्यालयों से दूर रहना चाहिए। विद्यालय सभी राजनैतिक दलों के सिद्धान्तों का निष्पक्ष विश्लेषण कर सकता, किन्तु किसी राजनैतिक दल का अखाड़ा नहीं बन सकता। यदि ऐसा न हुआ तो लोकतंत्र का सफल संचालन सम्भव नहीं हो सकेगा।

एक लोकतांत्रिक समाज में शिक्षा के उद्देश्य की अभिव्यक्ति उचित नागरिक के पूर्ण विकास में निहित है। एक उचित नागरिक से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने स्वयं के प्रति तथा अपने सहयोगियों के प्रति उत्तरदायित्व को निभा सके। वह ऐसा व्यक्ति हो जो अपने अधिकारों और कर्तव्यों के संबंध में जागरूक हो। उसमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओं को व्यावहारिक रूप से समझने की क्षमता हो। उसमें तर्क-वितर्क करने की शक्ति हो। वह जीवन के प्रति सृजनात्मक रूप से विचार रखता हो और अपने जीवन यापन के लिए धन अर्जित कर सकता हो। उसकी रुचियों का सम्यक विकास हो तथा उसमें व्यापकता हो। उसमें चिन्तन करने की क्षमता हो। शिक्षा को अपने उद्देश्यों में व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकास दोनों को स्थान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त शिक्षा में बालक के लिए व्यावसायिक उद्देश्य को भी महत्त्व दिया जाना चाहिए। भारत में प्रजातंत्र तभी सफल हो सकता है, जब यहाँ पर दी जाने वाली शिक्षा उचित नागरिकता का विकास करे।

माध्यमिक शिक्षा आयोग (१९५२-५३) के

अनुसार भारतीय लोकतंत्र के लिए तीन उद्देश्य हैं—

(१) चरित्र का प्रशिक्षण, जो विद्यार्थी को इस योग्य बना दे कि वह रचनात्मक रूप से विकसित होती हुई सामाजिक व्यवस्था में नागरिक के कर्तव्य का पालन कर सके। (२) व्यावहारिक तथा व्यावसायिक कुशलता में विकास हो ताकि वे अपने देश की आर्थिक स्थिति सुधारने में अपना सहयोग दे सकें। (३) साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक रुचियों का विकास हो, जो उनके आत्म-प्रदर्शन के लिए तथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं, जिनके बिना एक राष्ट्र की सक्रिय संस्कृति का विकास सम्भव नहीं है।

विद्यालय संगठन में भी लोकतंत्र की भावना को भी उचित स्थान मिलना चाहिए। अध्यापकों को स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वे स्वयं पाठ्यक्रम निर्धारित करें। उन्हें शिक्षण पद्धति और पाठ्य पुस्तकों को चुनने की स्वतंत्रता होनी आवश्यक है। हमारे देश में अध्यापकों की स्वतंत्रता तथा विद्यालय संगठन में लोकतंत्र की भावना को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है। यह सर्वथा अनुचित है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे देश के नागरिक लोकतंत्र के आदर्शों को अपनायें तो हमें सबसे पहले विद्यालयों में उचित वातावरण निर्मित करना होगा। विद्यालयों में सहयोग, सहानुभूति, प्रेम इत्यादि को प्रोत्साहन देने की ओर विशेष बल दिया जाना चाहिए। लोकतंत्र की भावना विद्यालय संगठन में उसी समय प्रभावशाली होगी, जब अध्यापकों तथा प्रधानाचार्य आदि के आपसी सम्बन्ध मित्रता एवं सहयोग पर आधारित हों।

शिक्षा का उद्देश्य कितना ही अच्छा क्यों न हो? कितना ही सुन्दर पाठ्यक्रम क्यों न बना दिया जाये? किन्तु यदि शिक्षक उपेक्षित कर दिया जाय तो सारी शिक्षा योजनाएं जहाँ की तहाँ रखी रह जायेगी। इसलिए शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

लोकतंत्र में अध्यापक मुख्य रूप से समाज के प्रति उत्तरदायी होता है। उसकी वफादारी शासन के प्रति न होकर छात्रों व अभिभावकों के प्रति होनी चाहिए। शिक्षक के लिए यह भी आवश्यक है वह चरित्रवान हो क्योंकि लोकतंत्र में अपने आचरण से ही वह छात्रों को प्रभावित कर सकता है। लोकतंत्रीय शिक्षा का आदर्श है कि, छात्रों में अच्छी आदतें डाली जाएँ एवं उनके चरित्र का उन्नयन किया जाए। यह तभी सम्भव है, जबकि शिक्षक स्वयं सच्चरित्र हों।

लोकतंत्रीय समाज के विद्यालयों में शिक्षक का स्थान एक मित्र, पथ-प्रदर्शक, समाज-सुधारक तथा नेता के रूप में होता है, जिससे वह अपने छात्रों तथा समाज का समुचित रूप से पथ-प्रदर्शन कर सके। शिक्षक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समाज में उचित परिवर्तन लाकर उसे प्रगति की ओर अग्रसर करे। इसके लिए उसमें तीन गुणों की अपेक्षा की जाती है, पहला— वह एक योग्य नागरिक हो तथा लोकतंत्रीय आदर्शों, मूल्यों एवं सिद्धान्तों में पूर्ण निष्ठा रखता हो। दूसरा— उसमें अपने छात्रों को समझने तथा उनके पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता हो, जिससे वह उनको एक योग्य नागरिक बनाने में सफल हो सके। तीसरा, वह लोकतंत्रीय आदर्शों के अनुसार प्रशिक्षित किया गया हो। अन्त में कह सकते हैं कि वह ऐसे उच्चरित्र का व्यक्ति होना चाहिए, जिससे वह समाज तथा छात्रों का सम्मान प्राप्त कर सके और अपने उदाहरण एवं सिद्धान्तों द्वारा उनका नेतृत्व करने में सफल हो सके।

लोकतंत्र में स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है। बालकों को अपनी मनमानी करने रोकने के लिए उन्हें उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति जागरूक करना चाहिए। जब विद्यार्थी अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन होते हैं और अपने अधिकारों की मांग करते हैं, तभी अधिकारियों एवं विद्यार्थियों में

संघर्ष उत्पन्न होता है। ऐसे अनेक उदाहरण वर्तमान समय में देखे जा सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि, छात्रों को अवन अधिकारों एवं कर्तव्यों को समझने के अवसर दिये जायँ और सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्व बतलाया जाय। लोकतंत्र की सफलता अनुशासन, पर निर्भर करती है। बिना अनुशासन के मानव समाज तथा देश की क्रियायें अव्यवस्थित रहती हैं और अव्यवस्था का परिणाम देश के लिए भयंकर सिद्ध हो सकता है। शिक्षा में भी स्वानुशासन पर बल दिया जाता है। इसके लिए विद्यालयों में सभी को अपनी प्रतिभा के विकास के लिए समान अवसर तथा स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। शिक्षक का व्यवहार निष्पक्ष होना चाहिए।

यदि अपने देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था की नींव सुदृढ़ करनी है, तो इसके लिए अपनी शिक्षा व्यवस्था को लोकतांत्रिक रूप देना ही होगा। देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था को चलाने के लिए योग्य नागरिकों की जरूरत है। योग्य नागरिकों का निर्माण शिक्षा द्वारा ही किया जा सकता है। शिक्षा के प्रति अपेक्षा का ही यह परिणाम है कि, हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में हजारों रोग लग गये और देश इस समय नाजुक परिस्थितियों से गुजर रहा है। यदि हम शिक्षा प्रणाली में आवश्यक सुधार करें और उसके द्वारा नागरिकों में लोकतांत्रिक भावना का विकास कर दें, तो निःसंदेह हमारा लोकतंत्र सफल एवं सबल हो सकेगा। ●

मंदिर की मूर्तियों में ईश्वर को देखने वाला व्यक्ति, भक्ति के निचले स्तर पर होता है। विधवा के आँसू पोंछने वाला, भूखे को खाना खिलाकर उसकी भूख मिटाने वाला, दूसरों के दुःख हरण को ईश्वर की सेवा मानने वाला व्यक्ति भक्ति के उच्चतम स्तर पर होता है।

स्वामी विवेकानंद



## मानव मूल्यों का हास एवं शिक्षा : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

शुभा ओझा

शहर में ऐसे तो हालात नहीं थे पहले  
रंजिशें थीं ये फसादात नहीं थे पहले  
और आज के हालात क्या हैं?  
खार की धार पैनी कुछ ऐसी हुई, बिंध रहें हैं  
सुमन बस, सुमन ही सुमन,  
सत्य के रूप को आग ऐसी लगी, जल रहें हैं  
चमन बस, चमन ही चमन,  
विष हवाओं में घुलकर ऐसे बहा, हर कहीं है  
घुटन बस, घुटन ही घुटन  
बाप रोता रहा, माँ बिलखती रही, द्रौपदी की तरह  
लाज लुटती रही

जिन्दा रहना बड़ा अब कठिन हो गया,  
बिक रहें हैं कफन बस, कफन ही कफन।

आज भारत एक ऐसे दौर से गुजर रहा है जबकि नैतिक आक्रमण लोगों की विचित्र प्रणालियों के आगे आत्मसमर्पण करने को बाध्य कर रहा है। जब भारी कीमत चुका कर राजनैतिक, सामाजिक और शैक्षिक ढाँचों में असंख्य प्रयोग किए जा रहे हैं। हम हत बुद्धि और भ्रांत होकर भविष्य के सम्मुख खड़े हैं और हमें राह दिखाने वाला कोई प्रकाश नहीं है। आज संसार अस्थायी मूल्य रखने वाली वस्तुओं के पीछे दौड़ रहा है। शाश्वत मूल्य की वस्तुओं का विचार करने के लिए उसके पास समय नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति सुख की चाह में अन्धे कुएँ में चक्कर लगा रहा है परन्तु उसे यह पता ही नहीं कि सुख क्या है? सुख परम् श्रेय है किन्तु सुख का अर्थ उपभोग न होकर नैतिक क्रिया है। कोई कार्य इसलिए अच्छा नहीं है कि उससे सुख मिलता है बल्कि उससे सुख इसलिए मिलता है क्योंकि वह अच्छा है। इस प्रकार सुख नैतिक मूल्य का परिणाम है उसका आधार नहीं है। मनुष्य के लिए बौद्धिक

और नैतिक सद्गुणों का समन्वय आवश्यक है क्योंकि इससे सुख मिलता है। सद्गुण का मार्ग स्वर्णिम मध्यम मार्ग है और विवेकशील प्रणाली इसी मार्ग का समर्थन करती है क्योंकि यही एक ऐसा मार्ग है जिससे व्यक्ति सन्तुष्ट रहता है।

किसी धर्म के बिना रहना सम्भव है परन्तु किन्हीं नैतिक मूल्यों के बिना रहना असम्भव है। वास्तव में ये मूल्य ही हैं जो हमारे व्यवहार को तथा मानवीय कार्यों को दिशा प्रदान करते हैं। नैतिक विकास के बिना मनुष्य, मनुष्य का शोषण करेगा तथा उन्हें मानव न समझकर पशुओं, वस्तुओं अथवा सम्पत्ति की भाँति प्रयोग में लाएगा। ऐसी स्थिति में मानव व पशु में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। नैतिकता से वंचित बुद्धि का विकास अन्ततोगत्वा अव्यवस्था तथा विनाश को आमन्त्रित करेगा और इस प्रकार आत्म-पराजयी होगा। वस्तुतः किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास का सम्बन्ध मानव मूल्यों से गहन रूप से जुड़ा हुआ है। वास्तव में मानव मूल्य तो व्यक्तित्व की परिभाषा में ही अन्तर्निहित हैं। व्यक्तित्व विकास के अन्तर्गत जिन मूल्यों (गुणों) का समावेश किया गया है वे हैं : आत्म-सम्मान, आत्म-निर्भरता, आत्म-संयम, आत्म-विश्वास तथा विवेक आदि। ये सभी ऐसे गुण हैं जिनके बिना नैतिक रूप से एक अच्छा जीवन बिताना सम्भव नहीं हो पाएगा। वस्तुतः मूल्य परिवर्तनशील समाज की वह धुरी हैं जिनके कारण समाज का अस्तित्व है क्योंकि उपयोगिता या कल्याणकारिता की भावना ही समाज को स्थिर रखती है। मूल्य वह सद्गुण हैं जिनकी सहायता से व्यक्ति निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपनी जीने की पद्धति का निर्माण करता है साथ ही यह संस्कृति एवं परम्परा द्वारा निःस्तृत

एवं परिपोषित होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मूल्य मनुष्य के अन्तर्मन की वह शक्ति है जो उसे एक विशिष्ट प्रकार से कर्म करने के लिए प्रेरित करती है एवं उसके आचरण को अनुशासित करती है।

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही नैतिकता को प्रमुख स्थान दिया गया है, इस संस्कृति के मूल आदर्श में ही मानव मूल्यों को प्रमुखता दी गई है। आरम्भ काल से ही निष्काम कर्म, त्याग, मानव सेवा को विशेष महत्त्व दिया गया है। आत्म बल की प्रतिष्ठा, साधुत्व की भावना, त्याग और तप की प्रतिष्ठा जैसे मूल्य भारतीय संस्कृति की प्राण प्रतिष्ठा हैं। शायद इसीलिए आज भी हमारी संस्कृति अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ रही है और विदेशियों द्वारा भी अपनायी एवं सराही जा रही है तभी तो इस संस्कृति की सराहना निम्न शब्दों में की जाती है—

“यूनानो मिसरो रुमाँ सब मिट गए जहाँ से  
बाकी मगर है अब तक नामों निशाँ हमारा  
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी  
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा”

भारतीय संस्कृति संसार के ज्ञान विज्ञान की प्रबल समर्थक रही है। भौतिक ऐश्वर्य से मुँह मोड़ना उसे स्वीकार नहीं, यह संस्कृति उपभोग के विषयों को त्याज्य नहीं मानती किन्तु उसकी तह में विद्यमान आध्यात्मिकता उसे नैतिक रूप प्रदान करना चाहती है। विभिन्न तरह की विभिन्नता के बावजूद सांस्कृतिक, धार्मिक, भावात्मक एकता का अटूट बन्धन ही भारतीय संस्कृति का शाश्वत मूल्य रहा है। यहाँ की शिक्षा भी मूल्यों पर आधारित रही है। ईश्वर भक्ति एवं धार्मिकता का समावेश, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्य पालन की भावना का समावेश, सामाजिक कुशलता की उन्नति और राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार के उद्देश्यों पर भारतीय शिक्षा

आधारित रही है। परन्तु आज देश की तस्वीर तेजी से परिवर्तित हो रही है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास, शिक्षा प्रणाली की संरचना, औद्योगिक सभ्यता के उदय एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के विकास से मानव के जीवन दर्शन एवं दृष्टिकोण में लगातार परिवर्तन हो रहा है। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप व्यक्ति में लालच, संकीर्णता, स्वार्थपरता, संवेदनहीनता एवं विलासिता की वृद्धि हुई है और व्यक्ति एवं समाज का नैतिक पतन हो रहा है। समाज के नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आदि क्षेत्रों में मूल्यों का हास एवं क्षरण हो रहा है। सर्वत्र मूल्यों के क्षरण एवं हास ने विश्व के समक्ष अनेक नवीन संकट उत्पन्न कर दिए हैं।

भारत सदैव से ही “वसुधैव कुटुम्बकम्” के मार्ग पर चला है। परन्तु आज समाज में विभिन्न प्रकार का प्रदूषण व्याप्त होता जा रहा है। आज देश में अनेक विघटनकारी संस्कृतियाँ हमारे शाश्वत मूल्यों पर आक्रमण कर रही हैं। व्यक्ति आज उपभोगवादी लक्षणों में उलझ कर रह गया है, जिससे व्यक्ति केन्द्रिकता बढ़ी है, सामाजिक सरोकार का हास हुआ है। व्यक्तिगत धरातल पर लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक स्थिति और भूमिका को डगमगा दिया है। धर्म निरपेक्षता आज के संदर्भ में धर्म कट्टरता बन गई है। हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी बन गई है। आज जहाँ विश्व के सामने युद्ध, पर्यावरण, ऊर्जा, भूख, आवासहीनता और सार्वजनिक स्वास्थ्य के विराट प्रश्न मुँह खोले खड़े हैं, वहाँ हम कुर्सी और सत्ता के खेल में लगे हैं, निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरों के जीवन से खिलवाड़ करने में तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है। हमारी संस्कृति के नैतिक नींव का क्षरण एवं अवमूल्यन हो रहा है और देश की विराट परम्पराएँ असंपृक्त होती जा रही हैं। इस प्रवृत्ति के कतिपय परिणाम विघटनकारी



हैं और हम इस प्रवृत्ति के असहाय दर्शक मात्र बन कर रह गये हैं। जहाँ हमारे देश में शाश्वत मूल्यों की परम्परा रही है, धर्म की उदात्त भावनाएं और मंगलकारी सिद्धान्त रहे हैं वहाँ आज विवेकहीन धर्मान्धता एवं मूल्यविहीन व्यक्ति का निर्माण हो रहा है।

वर्तमान समय में व्यक्ति के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में तनाव बढ़ता जा रहा है। परिवार का सौहार्दपूर्ण वातावरण, आदर का भाव कम होता जा रहा है, पति-पत्नी के सम्बन्ध तनावपूर्ण हैं। सामाजिक जीवन में सहयोग समाप्त होता जा रहा है। प्रदर्शन, घेराव, हिंसा, विद्रोह, अपहरण, कालाबाजारी आदि से सम्बन्धित घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। व्यक्ति स्वार्थी, अवसरवादी एवं अपने कर्तव्यों से विमुख हो रहा है। 'हम' की भावना की जगह 'मैं' की भावना व्याप्त होती जा रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव मूल्यों का निरन्तर हास होता जा रहा है। मूल्यों की गिरावट के कारण व्यक्ति के जीवन का अर्थ ही बदल गया है, सभी कामों में व्यक्ति को सिर्फ अपना स्वार्थ दिखाई पड़ता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि मूल्यों के हास को कैसे रोका जाए? अर्थात् वे कौन से साधन हैं जो मूल्यों का विकास करने के साथ-साथ मूल्यों के हास पर भी लगाम लगा सकें? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें व्यक्ति, समाज एवं शिक्षा के उन पक्षों पर व्यापक दृष्टि डालनी होगी जो मूल्यों के विकास में सकारात्मक भूमिका अदा करते हैं क्योंकि छात्र एक ऐसा बीज होता है जो अपने अन्दर मूल्यों के विकास को समेटे हुए है और शिक्षा वह परिवेश जो इस बीज को खाद-पानी एवं उचित वातावरण देकर पल्लवित होने का अवसर प्रदान करती है। इन दोनों के योगदान से ही मूल्यों का

उद्भव हो सकता है। शिक्षा समाज की वह सीढ़ी है जिस पर पाँव रखकर व्यक्ति अपने संस्कारों को संवारता है और शिक्षा को दिशा प्रदान करता है।

समाज को ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता है जो स्वयं स्वेच्छा से मूल्यों का पालन करें, जिससे सभी का कल्याण हो। कल्याणकारिता के इस कार्य में शिक्षा द्वारा ही व्यक्ति की आत्मा जाग्रत हो सकती है। जैसा कि इकबाल ने भी कहा है -

“शिक्षा वह है जो मनुष्य को मन और चरित्र सम्बन्धी मूल गुण प्रदान करती है, जैसे बुद्धि, साहस, सहिष्णुता, निर्भीकता, मनुष्य जाति से प्रेम एवं उच्चतर आध्यात्मिक मूल्य।”

परन्तु मूल्यों की शिक्षा दी जा सकती है? क्या मूल्य ऊपर से थोपने वाली वस्तु है? कुछ विचारक यह मानते हैं कि मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जा सकती किन्तु सुकरात का कथन था कि- “ज्ञान ही सदगुण है” अर्थात् यदि उचित रूप से मूल्यों की शिक्षा बालकों को दी जाय तो बालकों में निःसन्देह सदगुणों का जागरण होगा। सुकरात का यह विश्वास था कि मूल्यों की शिक्षा देकर व्यक्ति को उत्तम बनाया जा सकता है। सभी माता-पिता यही चाहते हैं कि उनका बच्चा विद्यालयी शिक्षा ग्रहण करके एक सभ्य एवं सुसंस्कृत नागरिक बने। माता-पिता यह कभी नहीं चाहेंगे कि उनके बच्चे को सब कुछ तो सिखाया जाए परन्तु नैतिक मूल्यों को नहीं सिखाया जाए। प्रत्येक व्यक्ति के मन में शिक्षा शब्द का अभिप्राय ही नैतिकता पूर्ण होता है। राज्य भी औपचारिक शिक्षालयों को इसी आशा से सहायता देता है कि इससे निकलने वाले विद्यार्थी नैतिकता के गुणों से विभूषित होंगे और वे राज्य के सुयोग्य नागरिक बनेंगे।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भी उन मूल्यों का वर्णन किया गया है जिन्हें शिक्षा द्वारा छात्रों के जीवन में उतारा जा सकता है, जो इस

उद्देश्य होना चाहिए। इस प्रकार सभी ने मूल्यों के गिरावट पर चिन्ता व्यक्त की एवं समाधान के लिए शिक्षा की तरफ रुख किया।

सच्चे रूप से शैक्षिक परिवेश प्रदान करने का एक उचित मार्ग यह है कि प्राचीन आश्रम या गुरुकुल प्रणाली को पुनर्जीवित किया जाए अर्थात् विद्यालय को प्रकृति के परिशुद्ध अंचल में अवस्थित किया जाय। जहाँ बच्चे के सभी पक्षों का विकास सम्भव होगा तथा वे खुले समुदाय में स्वअनुशासन द्वारा आधुनिक तकनीकी विधियों की सहायता से उत्पादक कार्य कर सकें। इसके अतिरिक्त विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं को इकट्ठा करना होगा। कोई भी बात जो अच्छी है, चाहे वह विगत से सम्बन्धित हो अथवा वर्तमान से, चाहे वह पूर्व की हो या पश्चिम की, उसकी भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक सम्बन्धों के आधार पर अवहेलना नहीं की जानी चाहिए बल्कि इन सभी स्रोतों से पाठ्यक्रम का चयन किया जाना चाहिए। हम घड़ी की सुईयों को पीछे नहीं घुमा सकते और न ही नए किन्तु खतरनाक रास्तों को स्वीकार कर सकते हैं। इसकी बजाए हमें किसी नए समाधान के लिए कार्य करना होगा और यह समाधान के मध्य मार्ग पर ही चलकर प्राप्त हो सकता है। महान शिक्षाविद् जाकिर हुसैन के शब्दों में -

“हमें प्राविधिक के लिए नैतिकता का बलिदान नहीं देना चाहिए। अपितु प्राविधिक को इस भाव तथा पर्यावरण में प्रस्तुत करना चाहिए कि वह उच्च मानव मूल्यों को शक्तिशाली व मजबूत करने का साधन बन जाए।”

वर्तमान में आवश्यकता है समन्वय की। समन्वय उस विविधता में एकता एवं द्वैतवादिता को विभाजित करने की बजाए एक करने का प्रयत्न करे। चाहे भारतीय हों या अन्य। सभी को विस्तृत

मानव परम्परा को अपनाने का साहस करना चाहिए और बाह्य स्रोतों से प्राप्त जीवनदायी अनुभवों का स्वागत करना चाहिए। अपनी भूमि व संस्कृति की सम्पदा में दृढ़तापूर्वक खड़े रहकर समुचित मानव-जाति को समझने एवं उचित ढंग से उसका रसास्वादन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

भारतीय संस्कृति किसी से कुछ छीनती नहीं है, किसी से कुछ वसूलती नहीं, बस सुगन्ध की तरह उस पर छा जाती है जो उसमें एक बार शामिल हो जाता है। बस हमें यह देखना आवश्यक है कि इस सुगन्ध में जो कुछ भी शामिल होता है वह उस देश की उदारता, रमणीयता, आतिथ्य में बिछ जाने की विनम्रता और दूसरों को प्रिय लगने वाली सहज मधुरता से खिलवाड़ न करे। हमारी खिड़कियाँ और दरवाजे उन सभी हवाओं का स्वागत करते हैं जो हमें मनुष्य बनाने में सहायक हैं। ●

#### सात सामाजिक पाप (Seven Social Sins)

१. सिद्धान्त के बिना राजनीति  
Politics without principle
२. परिश्रम के बिना सम्पत्ति  
Wealth without work
३. अन्तश्चेतना के बिना भोग  
Pleasure without conscience
४. चरित्र के बिना ज्ञान  
Knowledge without morality
५. नैतिकता के बिना व्यापार  
Commerce without morality
६. मानवता के बिना विज्ञान  
Science without humanity
७. त्याग के बिना पूजा  
Workship without sacrifice

(महात्मा गाँधी)



# आयुर्वेद शास्त्र में मानव मूल्यों की अवधारणा

डॉ० रानी सिंह \*

डॉ० लक्ष्मण सिंह \*\*

आयुर्वेद एक सर्वपारिषद शास्त्र है जिसमें न केवल चिकित्सा विज्ञान बल्कि सम्पूर्ण जीवन विज्ञान का दर्शन मिलता है। 'आयुषो वेद इति आयुर्वेद' अर्थात् आयु का जो वेद (ज्ञान) है वही आयुर्वेद है। जीवन का शायद ही कोई पक्ष ऐसा हो जो आयुर्वेद से अछूता हो। इसकी पृष्ठभूमि दार्शनिक है। दर्शनों के सभी सिद्धान्तों का व्यावहारिक स्वरूप को आयुर्वेद ने प्रस्तुत किया है और प्रतिपादित भी किया है जैसे पदार्थ और प्रमाण का निरूपण अपने अनुरूप चिकित्सकीय दृष्टिकोण से किया है। यही कारण है कि इसे स्वतन्त्र मौलिक दर्शन कहा जाता है। दार्शनिक होने के साथ-साथ यह शास्त्र आस्तिकता में भी विश्वास करता है। यही कारण है कि जगह-जगह पर धर्म के महत्त्व को भी दर्शाया गया है।

आचार्य चरक ने आयुर्वेद की जो परिभाषा दी है वह स्वयं में मूल्यनिष्ठ परिभाषा है। जो इस प्रकार है— हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।। (च.सू.) अर्थात् जिस ग्रंथ से हितकर आयु, अहितकर आयु जिसका सम्बन्ध समाजिक जीवन से है कि कौन व्यक्ति समाज का हितैषी और कौन कष्टकारक है। इसका वर्णन, हितकर अहितकर आयु के संदर्भ में किया है। सुखी आयु, दुःखी आयु, जिसका सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से है और साथ ही साथ दीर्घजीवन की प्राप्ति का वर्णन इस प्रकार जिस शास्त्र में हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। आचार्य ने विस्तार से इसका वर्णन किया है कि जो व्यक्ति शारीरिक, मानसिक रोगों से रहित, बलवीर्य युक्त, यशस्वी, पुरुषार्थी, पराक्रमी, ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न,

जितेन्द्रिय है वह सुखी है और इसके विपरीत दुःखी। इसी प्रकार जो व्यक्ति प्राणिमात्र का हितकर्ता, दूसरे के धन की इच्छा न रखने वाला, सत्यवादी, शान्तिप्रिय, ज्ञान विज्ञान युक्त, दानी, मद अभिमान रहित, अध्यात्म विद्या का ज्ञाता हो तथा सदैव समाज हित के लिए चिन्तन व कार्य करने वाला होता है उसकी आयु हितकर और इसके विपरीत अहितकर आयु होती है। सम्पूर्ण आयुर्वेद में स्थान-स्थान पर विभिन्न रूपों में मानव मूल्यों की बात कही गई है उन सभी का वर्णन तो यहाँ संभव नहीं है परन्तु उदाहरणस्वरूप कुछ संदर्भों का विवेचन यहाँ किया गया है जैसे—

- (१) परोपकार संबंधी मूल्य,
- (२) शिक्षा एवं शिक्षण संबंधी मूल्य
- (३) व्यावसायिक एवं जीविकोपार्जन संबंधी मूल्य
- (४) दैनिक जीवन में कर्म संबंधी मूल्य
- (५) सामाजिक जीवन में व्यवहार संबंधी मूल्य

(१) परोपकार संबंधी मूल्य — आयुर्वेद व्यावहारिक ज्ञान होने के कारण इस ग्रंथ के आदि मध्य एवं अन्त में मंगलाचरण का विधान है जो कि आस्तिक परम्परा के अनुसार शिष्टाचार का द्योतक है। पौराणिक युग में अथ अथवा ओम (ॐ) से ही मंगलाचरण किया जाता था। आयुर्वेदावरण से पूर्ण यह ज्ञान देव लोक की विद्या माना जाता था परन्तु कृत युग के अन्त में जब रोगों का प्रकोप बढ़ने लगा तब व्रत, उपवास, तप, ब्रह्मचर्य एवं वेद अध्ययन में लीन महर्षिगणों ने प्राणी मात्र पर दया के भाव से ही हिमालय के एक शांत सुन्दर स्थान पर सभा बुलाई जिसमें विचार किया गया कि बढ़ते हुए रोगों का

• प्रवक्ता, मौलिक सिद्धान्त विभाग, आयुर्वेद संकाय, का०हि०वि०  
•• शिडर, शल्यतन्त्र विभाग, आयुर्वेद संकाय, का०हि०वि०

प्रतिकार कैसे हो। यह सभा प्राणिमात्र के उपकार के लिए हुई थी, क्योंकि ऋषिगण तो अपने तप, स्वाध्याय यम, नियम आदि के द्वारा रोग रहित रहते ही थे। ऋषियों की यह मान्यता थी कि जीवन के मुख्य लक्ष्य पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति के लिए आरोग्य अत्यन्त आवश्यक है (च.सू.१)। अतः इसके लिए उन्होंने ध्यान प्रक्रिया का सहारा लिया और दिव्य दृष्टि द्वारा यह जाना कि ज्ञान को अमर प्रभु इन्द्र देव से कैसे ग्रहण किया जा सकता है? ऐसा आयुर्वेद वाङ्मय के ऐतिहासिक अध्ययन से ज्ञात होता है। इस कार्य के लिए उन्होंने परम तपस्वी महर्षि भारद्वाज को इन्द्र के पास आयुर्वेद का ज्ञान अर्जित करने के लिए भेजा जो त्रिसूत्र (हेतु, लिंग, औषधि) कारण, लक्षण व चिकित्सा के रूप में आयुर्वेद को पृथ्वी लोक पर लाए (च.सू.१/४-३०)। जो आज तक मानव मात्र की सेवा करा रहा है यह ऋषियों की परोपकारिक दृष्टि का परिणाम है जो अनुकरणीय भी है।

चिकित्सा में सफलता हेतु चिकित्सा के चार पदों का वर्णन किया गया है जिसमें चिकित्सक, रोगी, औषधि एवं परिचारक होते हैं। इन चारों के उचित गुण युक्त होने पर ही चिकित्सा में सफलता मिलती है। अतः श्रेष्ठ चिकित्सक के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि रोग देश, काल एवं औषधि ज्ञान के साथ-साथ वही चिकित्सक श्रेष्ठ है जो मित्रवत् व्यवहार करे, जो रोगियों पर करुणा (दया) का भाव रखता हो, साध्य रोगों में यत्न पूर्वक चिकित्सा कतरता हो और असाध्य रोगों में उपेक्षा का भाव रखता हो। यहाँ इन वृत्तियों का तात्पर्य है कि यदि चिकित्सक में मित्रता व करुणा का भाव नहीं होगा तो वह अपने रोगी के मन को नहीं जान सकता जो कि चिकित्सा का एक प्रमुख घटक माना जाता है। यत्न पूर्वक चिकित्सा का तात्पर्य है कि साध्य रोगों की अपने बुद्धि कौशल के

द्वारा युक्ति लगाकर रोगी को आरोग्य प्रदान करे, जिसका कि आज के भौतिकवादी युग में अभाव है। चिकित्सक को रोगी का रोग समझने का समय ही नहीं होता और यही कारण है कि कभी-कभी एक साधारण रोग भी भयंकर रूप धारण कर लेता है, चिकित्सक की उपेक्षा के कारण। असाध्य रोग में उपेक्षा का तात्पर्य यह नहीं कि चिकित्सक उस रोग से पीड़ित रोगी की चिकित्सा ही न करे अपितु वस्तुस्थिति समझने और समझाने के बाद ही रोगी का उपचार करने का प्रयत्न करे। मैत्री कारुण्यमार्तेशु शक्ये प्रीतिरूपेक्षणम् (च. सू. ६/२६)। इसी प्रकार रोगी से परिचारक के व्यवहार का वर्णन किया जिसमें कि आदर एवं जिम्मेदार के भाव को दर्शाया गया है।

(२) शिक्षा एवं शिक्षण संबंधी मूल्य – आयुर्वेदाचार्यों के अनुसार बुद्धिमानों के लिए सम्पूर्ण जगत एक शिक्षक या गुरु है। आचार्यों का यह विचार उनकी शिक्षा और शिक्षक के प्रति बुनियादी सोच को दर्शाता है। प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू के अनुसार संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो सब कुछ जानता है (No one is the master of all)। यानि व्यक्ति जीवन भर एक छात्र के रूप में संसार से कुछ न कुछ सीखता हुआ ही चला जाता है। आयुर्वेदाचार्यों के अनुसार भी ज्ञान प्राप्ति के तीन साधन अध्ययन, अध्यापन एवं तदविद् सम्भाषा बताए गये हैं। इसमें शास्त्र के विभिन्न गुण-दोषों का वर्णन, गुरु एवं शिष्य के गुण, उनके बीच के सम्बन्ध का जो सुन्दर, सैद्धान्तिक एवं मर्यादा परक विस्तृत वर्णन दिया गया है वह निश्चय ही प्रत्येक युग में अनुकरणीय है (च.वि. ८/३-१५)। महर्षि चरक एवं सुश्रुत के अनुसार एक बुद्धिमान वैद्य को अपने शास्त्र एवं प्रयोगात्मक ज्ञान को प्रयत्न पूर्वक अर्जित कर विशेष कौशल हासिल करके ही चिकित्सा व्यवसाय प्रारम्भ करना



चाहिए ताकि वह रोगियों को निरोगी एवं प्राण देने वाला बन सके (च.सू. १/१३४)। इतना ही नहीं उसे यह कार्य राज्याज्ञा प्राप्त करने के बाद ही प्रारम्भ करना चाहिए। जिसका कि विपरीत स्वरूप आज भी इतने विकसित युग में देखने को मिलता है। बिना शास्त्र एवं प्रयोगात्मक ज्ञान तथा बिना राज्याज्ञा के अनेक झोलाछाप चिकित्सक देखने को मिलते हैं जो न जाने कितने लोगों की जान से खेलते हैं (सु.सू. १०/३)। सुश्रुत के अनुसार एक अध्यापक को अपने शिष्य को प्रत्येक विषय का ज्ञान सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं विस्तृत से विस्तृत स्तर तक देना चाहिए और शिष्य भी उसको बहुत ही तत्परता एवं हृदय से ग्रहण करे। इसी के साथ-साथ उसे अपने विषय के अलावा अन्य विषयों का भी ज्ञान होना चाहिए। सुश्रुत के अनुसार एक विषय का ज्ञाता विद्वान नहीं हो सकता (सु.सू. ४/७५)।

### (३) व्यावसायिक एवं जीविकोपार्जन संबंधी मूल्य—

स्वस्थवृत्त प्रकरण में बताया गया है कि मनुष्य जीविका के लिए उन्हीं उपायों का अवलम्बन करे जो धर्म विरोधी न हों जो व्यक्ति शांत रहते हुए वेदों का अध्ययन करता है वह सुख को प्राप्त करता है (च.सू. ५/१०४) और सुख प्राप्ति ही सभी जीवों की मात्र प्रवृत्ति होती है परन्तु सुख बिना धर्माचरण के प्राप्त नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति की अवधारणा के अनुसार जो जीवन के चार लक्ष्य बताए गए हैं उन्हें व्यक्ति स्वस्थ रहकर ही प्राप्त कर सकता है। इसके लिए जीवन को कुछ नियमों के अनुसार जीना आवश्यक होता है। नित्य सुबह ब्रह्म मूर्हर्त में उठकर, शौचादि सभी नित्य क्रियाओं से निवृत्त हो, पूजा-पाठ, स्वाध्याय भोजन आदि के बाद धर्मानुसार बताये गये उपायों के आधार पर आजीविका अर्जित करे। पुरुषार्थ चतुष्टय के समान आयुर्वेद में जीवन की तीन ऐषणाओं (इच्छा) का वर्णन किया गया है जिसके अनुसार सबसे पहली

प्राण ऐषणा, दूसरी धन की ऐषणा और तीसरी परलोकेषणा। यह तो सर्वविदित है कि प्रत्येक जीव की सबसे पहली इच्छा जीवित रहने और लम्बा जीवन जीने की होती है यह जीव का स्वाभाव ही है। जीवित रहने के लिए भोजन पानी आदि अन्य जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरी इच्छा धन की बताई गई है जिसके अनुसार धन प्राप्ति के साधनों का उल्लेख किया है और परिश्रम द्वारा प्राप्त ऐसा धन जिसकी कोई निन्दा न करे, वही जीविका के लिए उत्तम माना है जिसमें कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एवं निष्ठा पूर्वक राजोपसेवा आदि से प्राप्त धन का उल्लेख है। कहने का तात्पर्य है कि धन की प्राप्ति का साधन पाप रहित और न्यायोचित होना चाहिए, चाहे वह कुछ भी हो। उस काल में क्योंकि यही साधन मुख्य हुआ करते थे, इसीलिए आचार्यों ने उनका उल्लेख किया है। आज इसका (जीविकोपार्जन) क्षेत्र विस्तृत हो चुका है परन्तु उसी के साथ-साथ उसमें बहुत सी बुराईयों का भी समावेश हो गया है जो सर्वविदित है। वैसे तो चिकित्सा मानव सेवा से जुड़ा धर्म और व्यवसाय भी हैं परन्तु चिकित्सक भी क्योंकि समाज का ही एक अंग है, और उसे भी अपना और अपने परिवार का जीवन निर्वाह करने के लिए धन की आवश्यकता होती है इसका प्रावधान भी आचार्यों ने प्रारम्भ से ही शास्त्र में वर्णित किया है। इसके अनुसार जब कोई वैद्य या चिकित्सक रोगी की चिकित्सा करता था, उसे एक धन्वंतरि भाग के रूप में धन अदा करना होता था। जिसका कुछ अंश धर्मार्थ और बाकी रोगियों की चिकित्सार्थ काम आता था और दूसरा रुद्र भाग जिसके अनुसार चिकित्सक रोगी से पैसे नहीं लेता था बल्कि दवा की कीमत का कुछ भाग चिकित्सक को दवा विक्रेता या पंसारी को देना होता था। आज उसी को कमीशन कहा जाता है जिसने कि बड़ा ही भयावह रूप ले लिया है जो

कि व्यावहारिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से मानवीय मूल्यों के अनुरूप नहीं है जिसका कारण शायद भौतिक विकास के युग में मानव मूल्यों का ह्रास हो जाना है। इसी के साथ-साथ जो मूर्ख या छद्मचर वैद्य (quacks) हैं उन्हें नैतिक दृष्टि से चिकित्सा करने का अधिकार ही नहीं है परन्तु यदि वह शरण में आए रोगी की चिकित्सा करता है और बदले में उससे अन्न व धन लेता है तो वह अत्यन्त पाप का भागी होता है और उसका कृत्य दण्डनीय भी है (च.सू.१/१३२)। अतः मानव होने के नाते मनुष्य का यह पहला कर्तव्य है, कि वह स्वयं ही आत्ममंथन कर निश्चित करे कि उसे किस प्रकार के धन से अपना और अपने परिवार का पालन पोषण करना है। जीविकोपार्जन के साथ-साथ ही उन्होंने व्यावसायिक मूल्यों का भी वर्णन किया है अर्थात् दूसरे के अधिकार क्षेत्र में दखल न देने की हिदायत दी है। अपने-अपने ही क्षेत्र में सीमित रहना चाहिए। यह विशिष्ट दृष्टिकोण आचार्यों का था जिन्होंने यह तो कहा कि सभी विद्याओं का ज्ञान होना आवश्यक है परन्तु कार्यक्षेत्र अपना नहीं कि विषय हो। आज के समान ही एक ही चिकित्सक सभी रोगों का विशेषज्ञ (च.चि.२६/१३) बन जाता है।

**(४) दैनिक जीवन में कर्म संबंधी मूल्य** — क्रियाएँ तीन प्रकार की होती हैं शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक। मन जिसे धर्म, दर्शन, आयुर्वेद एवं अन्य शास्त्रों ने उसके रज व तम गुण के कारण उसे विभिन्न बुराइयों का मूल माना है। आयुर्वेद के अनुसार भी रोग के दो अधिष्ठान होते हैं शरीर व मन। यही कारण है कि चरक के धारणीय, अधारणीय वेग (urges) प्रकरण में जहाँ एक ओर शरीर को शुद्ध एवं स्वस्थ रखने के लिए कुछ शारीरिक वेगों जैसे मल, मूत्र के धारण न करने की सलाह दी गई है वहीं दूसरी ओर मन को स्वस्थ रखने के लिए कुछ मानसिक वेगों को यत्न पूर्वक

धारण करने को कहा है, क्योंकि मानसिक वेग (काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि) विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों के उत्पादक तो होते ही हैं, मनुष्य के व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करते हैं (च.सू. ७)।

रोगों का एक कारण प्रज्ञापराध माना है जिसमें बुद्धि, धैर्य व स्मृति के नष्ट या विकृत होने पर मनुष्य जो अनुचित कार्य करता है उसे प्रज्ञापराध कहते हैं और उसके निराकरण में आप्त पुरुषों के उपदेशों का अनुसरण करने को कहा है। आप्त पुरुष वे होते हैं जो रागद्वेष मोह आदि से मुक्त एवं देश काल व परिस्थिति से अप्रभावित हुए बिना वही कहते या करते हैं जो कहना चाहिए या करना चाहिए। उसमें बताया गया है कि पापी, चुगलखोर, झगड़ालु, लोभी ईर्ष्यालु, दूसरों की निन्दा करने वाला, अत्यंत चंचल, दया रहित, धर्म छोड़ अधर्म पर चलने वाले पुरुष के कदापि सान्निध्य में नहीं रहना चाहिए क्योंकि ऐसे व्यक्ति के प्रभाव में आकर ही व्यक्ति प्रज्ञापराध करता है। इससे विपरीत गुण वाले व्यक्ति जो विद्या, बुद्धि, धैर्यशाली, स्मरण शक्ति युक्त दयालु तथा धर्म पर चलने व चलाने वाला तथा महापुरुषों का साथ करना चाहिए। इससे व्यक्ति में पहले से भी विद्यमान दुर्गुण दूर हो जाते हैं और नवीन सदगुणों का प्रादुर्भाव होता है।

मानस रोग चिकित्सा में मन को विषयों से हटकर उसका नियमन करना बुद्धि, धैर्य एवं स्मृति को ध्यान में रखकर आत्मविश्लेषण करने को मानस दोषों की परम औषधि बताया है। एक अन्य अध्याय में चरक ने ही मानस रोगों में सत्त्वावजयं (मन पर विजय प्राप्त करना) चिकित्सा बताई है। जिसके लिए त्याग और वैराग्य जो गीता में बताए गए हैं उनसे लगाव तक भी न रखना है। उपधा (तृष्णा) ही दुःख व दुःख के आश्रय शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं। इसके त्याग में ही सभी दुःखों



की निवृत्ति बताई गई है। (च.शा.)।

मानस रोगों के चिकित्सा सूत्र में शास्त्र ज्ञान (knowledge), विज्ञान (scientific knowledge), धैर्य (patience), स्मृति (memory) एवं समाधि (thinking with concentration) जैसी युक्तियों का वर्णन किया है। मनसो ज्ञानविज्ञान धैर्यस्मृतिमाधिभिः (च.सू.१/५८)।

#### (५) सामाजिक व्यवहार संबंधी मूल्य -

सद्वृत प्रकरण में मानव मूल्य :

सत्तां+वृतं = सज्जनानां व्यवहार जात सद्वृतम्

अर्थात् सज्जनों जैसा आचरण या शुभ आचरण जो व्यक्ति शान्ति, शुद्धि एवं सद्विचार आदि के योग से उत्पन्न धर्म के द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) को निरापद कर जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें सज्जन और इनके विपरीत आचरण करने वालों को दुर्जन या दुष्ट कहा जाता है।

सद्वृत प्रकरण के अन्तर्गत देवता गाय, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध (ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध) सिद्ध (तपस्वी) आचार्य आदि की वन्दना का विधान है। अग्नि जो मानव की जीवनयापिनी है, की पूजा, प्रशस्त औषधियों का धारण जैसे रुद्राक्ष, नीलम, गोमेद यानि जो धारण के द्वारा अपना प्रभाव दिखाते हैं (due to slow absorption and psychological effect)। दोनों समय स्नान, संध्या (पूजा) तथा हर प्रकार से शारीरिक स्वच्छता, सज्जन व्यक्ति के समान साफ सुथरी वेशभूषा को धारण करना चाहिए। सदैव मुस्कुराते हुए प्रसन्नचित रहना चाहिए। दूसरों पर विपत्ति आने पर दया एवं सहायता करना चाहिए, सामर्थ्य के अनुसार दान, पितरों को पिंड दान, समय पर हितकर थोड़े तथा मधुर वचन बोलने चाहिए। दूसरों की उन्नति को देखकर प्रसन्न होना चाहिए। निश्चिंत, निडर, लज्जायुक्त, बुद्धिमान, उत्साही, चतुर, सभी प्राणियों के साथ स्वसमान व्यवहार करने वाला सत्य शान्तिप्रिय, सहिष्णु तथा राग द्वेष से उत्पन्न भावों को त्यागने वाला होना

चाहिए। इसके साथ ही क्या-क्या नहीं करना चाहिए और समय विशिष्ट यानि भोजन करते समय, मलत्याग के समय, स्त्रियों, वृद्ध एवं बच्चों के साथ व्यवहार करते समय, पढ़ते पढ़ाते समय, पूज्य व्यक्ति के सान्धिय में रहते हुए तथा विभिन्न सामाजिक कार्यों के अवसर पर किस-किस प्रकार के सद्वृत का पालन करना चाहिए, ऐसा वर्णन संहिता ग्रंथों में विस्तार से दिया गया है। किन्तु विषय विस्ताररूप से यहाँ देना संभव नहीं है। ऐसा आचरण आचार्यों ने न केवल आम व्यक्ति के लिए बल्कि चिकित्सकों के लिए भी जगह-जगह वर्णित किया है क्योंकि चिकित्सक भी समाज का ही एक अंग है (च.सू. ८)। सुश्रुत ने रोगी को अपने पुत्र एवं संबंधी समान समझने का जीवन में निर्देश दिया है और चिकित्सा इस प्रकार से करना चाहिए की रोगी का रोग भी दूर हो जाए और उस का बल भी संरक्षित रहे। यह तभी संभव है जब चिकित्सक रोगी को स्वयं के समान समझता है (सू.चि. १८/३)। इसी के साथ ही वह स्वयं भी साहसी, दृढ़निश्चयी तथा उसके यन्त्र-शस्त्र ठीक प्रकार से कार्य करने वाले होने चाहिए (सू.सू. ५/१५)।

सद्वृत प्रकरण में आचार्यों के विचारों में पूर्णतः खुलेपन का भी आभास होता है। उनके अनुसार युगानुरूप सद्वृत के रूप में परिवर्तन किया जा सकता है जैसे कि पौराणिक मत के अनुसार एक स्थान पर आया है कि धनी व्यक्ति की संगत करनी चाहिए जिसका कि परवर्ती आचार्यों ने वर्णन नहीं किया, क्योंकि यह बात उस काल एवं परिवेश में तो शायद सही रही होगी जिस काल में संहिताओं का निर्माण हुआ है परन्तु इस विचार को आधुनिक परिवेश में देखा जाय तो यह सोचना पड़ेगा कि धनी व्यक्ति किस प्रकार का है। धन किस उपाय से आया है। इसी प्रकार मांस भक्षण की बात आई है। परन्तु यदि किसी रोग में मांस भक्षण अनिवार्य है तो वहाँ उसका उपयोग करना अधर्म या हिंसा

से ऊपर माना जायेगा क्योंकि आयुर्वेद चिकित्सा का भी विज्ञान होने से रोगी के रोग का निवारण भी उसका परम प्रयोजन है। परन्तु आधुनिक काल में तो चिकित्सा विज्ञान इतना विकसित हो चुका है कि उसके भी विकल्प मौजूद हैं। जरूरी नहीं है कि रोगी को मांस की आवश्यकता है तो उसे मांस ही दिया जाय उससे मिलते-जुलते शाकाहारी आहार बहुलता में उपलब्ध हैं और मांसाहार से उत्तम माने जाते हैं। इसी प्रकार साधु, सन्तों, गुरुओं एवं आचार्यों की वन्दना की बात है जिसका स्वरूप आधुनिक परिवेश में बदल चुका है। पितरों को पिंडदान भी व्यक्ति-विशेष की विचारधारा पर निर्भर करता है। इस प्रकार सद्वृत्त प्रकरण आयुर्वेद का ऐसा प्रकरण है जिसमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष आदि जीवन के सभी पक्षों से संबन्धित सद्वृत्त पालन का निर्देश किया गया है जिसका पालन करने से व्यक्ति को न केवल आरोग्य लाभ बल्कि अपनी इन्द्रियों पर भी विजय प्राप्त होती है। क्योंकि इन्द्रिय लोलुपता दुःख एवं अधर्म का कारण होता है। चिकित्सक के लिए भी व्यावहारिक मूल्यों का वर्णन विस्तृत रूप में मिलता है उसे रोगी के प्रति मैत्री एवं करुणा का भाव, संयमी, अभिमान रहित एवं मृदुभाषी होना चाहिए (च.सू. ६/२६)।

इसी प्रकार एक अन्य संदर्भ जनपदोर्ध्वस (Epidemic) का है। जो कि चरक विमानस्थान अध्याय ३ में वर्णित है। इसमें जनपदोर्ध्वस के कारणों में वायु, जल, देश एवं काल का विकृत (दूषित) हो जाना है और उसका मूल कारण अधर्म है। उसमें यह बताया गया है कि जब देश, नगर या जनपद के प्रधान या मुख्य व्यक्ति धर्म का त्याग कर अधर्म का व्यवहार करते हैं और साथ ही साथ उनके सहयोगी तथा प्रजा भी उस अधर्म में योगदान देती है तो अधर्म, धर्म को तिरोहित कर देता है जिसका बदला प्रकृति फिर इस स्वरूप में लेती है।

वर्षा समय पर नहीं होती है, ऋतुओं का स्वभाव बिगड़ जाता है, वायु उचित रूप में नहीं बहती, पृथ्वी का स्वरूप विकृत हो जाता है, जल सूख जाता है या विकृत हो जाता है और खाद्य पदार्थ एवं औषधियां अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़कर विकृत हो जनपद को नष्ट कर देते हैं। इसकी चिकित्सा में विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान, सत्संग रसायन प्रयोग, पंचकर्म चिकित्सा के साथ-साथ विभिन्न औषधि चिकित्सा तथा बचाव के उपाय करने चाहिए। आधुनिक परिवेश में भी यह बात उतनी ही सत्य है जितनी पुरातन काल में। देश, राज्य और उनके प्रमुख कुछ निहित स्वार्थों के कारण प्राकृतिक सौंदर्य एवं संसाधनों का जरूरत से ज्यादा प्रयोग एवं नष्ट कर रहे हैं और जनता भी जो उसका कतर्त्य है उसका निर्वाह नहीं करती है जिसके परिणाम स्वरूप प्रकृति समय-समय पर विभिन्न स्वरूपों में अपना विरोध प्रकट करती है कहीं सूखा, कहीं बाढ़, कहीं भूचाल, कहीं सुनामी आदि। गंगा जिसे हम माँ कहकर पूजा करते हैं को हमने पूर्णतः दूषित कर डाला है जिसका परिणाम भी हम ही भोग रहे हैं और भविष्य की संभावनाएं और भी भयावह हैं।

इस प्रकार आयुर्वेद जो कि भारतीय चिकित्सा विज्ञान तथा विश्व की सबसे पुरातन चिकित्सा पद्धति माना जाता है, के अन्तर्गत विभिन्न संदर्भों में मानवमूल्यों का वर्णन मिलता है। इसी शास्त्र के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि चार युगों (कृत, त्रेता द्वापर, व कलि) में धर्म के चार पाद होते हैं और प्रत्येक युग के साथ धर्म का एक पद समाप्त होता है। शायद यही कारण है कि आधुनिक युग (कलियुग) में धर्म का हास होने से मानव मूल्यों का भी हास हुआ है या दार्शनिक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में जिस प्रकार भौतिकता का विकास हुआ उसी के अनुरूप मानव मूल्यों का नहीं। ●



## हम क्या कर सकते हैं

डॉ० अमित कुमार सिंह \*

अपर्णा सिंह \*\*

मदर टेरेसा से किसी पत्रकार ने पूछा— “आपकी दृष्टि में दुनिया की सबसे घातक बीमारी क्या है?” मदर टेरेसा का उत्तर विस्मयकारी एवं स्तब्धकारी था। उस पत्रकार की तरह हम जैसे लोग भी शायद यही उम्मीद करते हैं कि मदर टेरेसा का उत्तर होगा— एड्स जैसी कोई घातक बीमारी। परन्तु मदर टेरेसा का यह कहना था कि “मनुष्य द्वारा स्वयं को लाचार, बेवस व असहाय समझे जाने से ज्यादा घातक कोई बीमारी नहीं है।” उनका कहना था कि यह एक ऐसी बीमारी है जिसका न कोई इलाज है और न ही कोई औषधि।

मदर टेरेसा की यह उक्ति आस-पास के वातावरण में नैराश्य को देखकर बिल्कुल सही प्रतीत होती है। प्रत्येक स्तर पर लोगों को यही लगता है कि हमारे आस-पास जो व्यवस्था है, हम उससे कुपित दुःखी एवं प्रताड़ित होते हैं, लेकिन इसे ठीक करने की कोई क्षमता नहीं रखते हैं। एक युवा छात्र यह सोचता है कि मैं आई.ए.एस. रहता तो शायद कुछ कर सकता। आई.ए.एस. की पीड़ा यह है कि वह व्यवस्था में स्वयं को कहीं फिट नहीं पाता है। उसे ऐसा लगता है कि शायद राजनीतिज्ञ होता तो मैं कुछ कर पाता। ऐसी ही बेचारगी की एक लम्बी ऋंखला है। इस ऋंखला में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं की सकारात्मक भूमिका को परिभाषित नहीं कर पा रहा है। मेरी धारणा इस सर्वस्वीकृत नैराश्य के भाव से भिन्न है। हम बहुत कुछ कर सकते हैं। अपनी सीमा और सामर्थ्य के अन्तर्गत बिना किसी क्रांति के व्यवस्था को सरल, सुगम सुंदर एवं समृद्ध बना सकते हैं। ऐसे ही साधारण से उपाय प्रस्तुत हैं, इस लेख-माला में।

✧ सर्वप्रथम हमारी व्यवस्था की धारणा त्रुटिपूर्ण है। हम जब भी व्यवस्था की बात करते हैं तो हमारा सारा आग्रह स्वयं को छोड़कर समूची व्यवस्था को बदलने के लिए होता है। ऐसा हम ही नहीं बल्कि सभी लोग सोचते हैं। फलतः व्यवस्था सम्बन्धी कोई भी चर्चा अनर्गल एवं निरर्थक प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं होती। हम व्यवस्था के अंग हैं और व्यवस्था मूलतः हमारी ही वृहत जोड़ होती है। बूंद के बिना समुद्र का कोई अस्तित्व नहीं होता है। सागर बूंद का ही विस्तार है। भारत के सन्दर्भ में देखें तो भारत की आबादी अगर १ अरब १५ लाख है तो हम स्वयं में १ अरब १५ लाखवां भारत हैं। इस तथ्य को हम जैसे ही आत्मसात करते हैं तो हमारी स्वयं की भूमिका के महत्त्व का पता चलता है। अगर हम स्वयं की भूमिका को सकारात्मक रखें तो व्यवस्था में एक मौन परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि हम किसी न किसी रूप से व्यवस्था में जी रहे हैं। चाहे हम शिक्षक हों, छात्र हों, सामाजिक कार्यकर्ता, व्यापारी हों, राजनीतिज्ञ हों या फिर प्रशासनिक अधिकारी।

अगर हम व्यवस्था की धारणा को भली-भाँति समझ लें तो हमारा योगदान आज से ही आरम्भ हो सकता है। यह शुभ कार्य बिजली बचाकर शुरू कर सकते हैं। समान्यतः हम अनावश्यक रूप से बिजली बरबाद करते हैं। दिन में बल्ब जलाना, पंखा चलाकर कम्बल ओढ़ना, दिन में स्ट्रीट लाइट जलना बिजली की बरबादी हम कहीं भी देख सकते हैं। सरकारी भवनों एवं दफ्तरों को छोड़ भी दें तो बी.एच.यू. के छात्रावास में विद्युत के अपव्यय को देखकर बहुत दुःख होता है। हम थोड़ी जागरूकता से इस

\* वरिष्ठ प्रवक्ता, आर. एस. एम. पी. जी. कॉलेज, धामपुर, विजनौर

\*\* शिक्षिका सरमारी विद्यालय, धामपुर

अपव्यय को रोकने का महान राष्ट्रीय दायित्व बिना किसी शोर-शराबे के पूरा कर सकते हैं। १०० वाट के बल्ब के स्थान पर ट्यूब लाईट या फिर १२, १४, १८ वाट का 'सी एफ एल' बल्ब इस्तेमाल किया जा सकता है। यह न केवल अपव्यय को रोकता है, बल्कि आँखों को भी सुकून देता है।

❖ विद्युत के साथ-साथ पेट्रोल की बचत भी सहज रूप से की जा सकती है। हम पचास कदम की दूरी भी पैदल चलने में अपनी तौहीन समझते हैं। एक कार में बिना आवश्यकता के स्टेटस सिंबल के चक्कर में एक व्यक्ति का चलना कहीं भी सर्वसुलभ है। हम ऐसे स्थान पर कभी-कभी दो पहिए वाहन का प्रयोग कर सकते हैं, अगर इसकी उपलब्धता हो। ठीक ऐसे ही दो पहिए वाहन वाले कभी-कभी साइकिल का प्रयोग कर सकते हैं। भारत समेत समूची दुनिया ऊर्जा-संकट से जूझ रही है। आफगानिस्तान, ईरान अथवा ईराक संकट आदि इन सारे संकटों के मूल में ऊर्जा संकट ही है। भारतीय जीडीपी का करीब बीस प्रतिशत हिस्सा इसी तेल-आपूर्ति में चला जाता है। ऐसे में हम थोड़ी भी समझदारी दिखायें तो हम सीधे राष्ट्र के उपकार का भागीदार बन सकते हैं।

❖ स्वच्छता सार्वजनिक मानस का प्रतिबिम्ब है। हम कहीं भी, किसी भी सार्वजनिक स्थल पर चले जाएं तो हमें स्वच्छता देखने को नहीं मिलती है। घर के बाहर कूड़े का ढेर खड़ा करना हमारी अनिवार्य भारतीय जीवन-शैली का रूप धारणा करता जा रहा है। स्वच्छता के महत्त्व के बारे में महात्मा गाँधी ने यंग इंडिया, में ११-११-१९२५ में लिखा था- "भगवान के प्रेम के बाद महत्त्व की दृष्टि से दूसरा स्थान स्वच्छता के प्रेम का ही है।" जिस तरह हमारा मन मलिन हो तो हम भगवान को प्रेम सम्पादित नहीं कर सकते, उसी तरह हमारा शरीर मलिन हो तो भी हम उसका आशीर्वाद नहीं पा

सकते और शहर अस्वच्छ हो तो शरीर स्वच्छ रहना संभव नहीं है। अगर हम थोड़ी सी ईमानदारी एवं प्रतिबद्धता दिखाएँ तो इस गंदगी से हमें छुटकारा मिल सकता है। डेंगु, मलेरिया, दिमागी बुखार, पोलियो जैसी ज्यादातर घातक बीमारियाँ इस गंदगी की देन होती हैं। अगर हम अपने घर के साथ-साथ सामने पड़े कूड़े-कचरे के प्रति थोड़ी भी गंभीरता दिखाएँ तो निश्चित ही हम इन बीमारियों को पनपने से पूर्व ही रोक सकते हैं। अक्सर पॉश कालोनियों में भी नाली में पानी जमा रहता है, जो मच्छरों को निमंत्रित करता है और बीमारियों को आमंत्रित। इसे हम जमा होने से रोक सकते हैं। इस छोटे से कार्य के लिए हमें सरकार का मुँह नहीं ताकना होगा, हम अकेले भी सामर्थ्यवान हैं।

❖ व्यवस्था में स्वयं की भूमिका को समझने से पूर्व हमें पूरकता एवं परस्परता का संबंध जानना, समझना और जीना होगा। प्रत्येक व्यक्ति एक सामाजिक जोड़ है। भौतिक एवं मानसिक स्तर पर हम सामूहिक सहयोग से ही कोई भी छोटा-बड़ा कार्य करने में सक्षम हो पाते हैं। उदाहरण स्वरूप हम सड़क का ही उदाहरण लें। हम जिस सड़क पर चलते हैं, उसमें किसी का श्रम है, किसी की योजना है, किसी का कौशल है, किसी का धन है, किसी की नीति-क्रियान्वयन। दूसरे शब्दों में, एक साधरण सी सड़क एक सामूहिक टीम-वर्क का प्रतिफलन है। ऐसे ही हमारे जीवन का प्रत्येक कृत्य एक सामूहिकता का स्वाभाविक प्रतिफलन है। यह मानसिक स्तर पर भी लागू होता है। हम इस अदृश्य समाज की शक्ति को पहचानें और अहो भाव से अपनी सामाजिक भूमिका को समृद्ध बनाएँ।

❖ आज के समय की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि हम अपने आस-पास एक नकारात्मकता का माहौल पाते हैं। आप कोई सकारात्मक बात करेंगे तो लोग उस पर कई सवाल उठाएँगे लेकिन अगर



आप कोई नकारात्मक पक्ष उठाएँगे तो लोगों को यह सहज ही स्वीकार्य हो जाता है। हम नकारात्मकता के विषाक्त माहौल में जी रहे हैं। मीडिया, फिल्म, राजनीति, समाज—सुधार एवं धर्म का एजेंडा नकारात्मक दिखाई देता है। यह मूलतः समस्या केन्द्रित है, समाधान मूलक नहीं। हम स्वयं भी सद्विचारों की खेती कर सकते हैं। मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र की इसलिए महत्वपूर्ण एवं आवश्यक भूमिका हो जाती है, क्योंकि यह सद्विचारों की खेती का सामूहिक सामाजिक एवं सार्वजनिक प्रयास है।

सद्विचारों की खेती के साथ-साथ सकारात्मक विचारों, व्यक्तियों एवं संस्थाओं का नेटवर्किंग भी आवश्यक है। आज स्थिति विपरीत है। आतंकवाद का नेटवर्क विश्वव्यापी है, लेकिन सकारात्मक एजेंडे के लिए दो— व्यक्तियों, एवं संस्थाओं के मध्य सहयोग एवं स्नेह कठिन हो गया है। इसी नेटवर्किंग की कमी का परिणाम है कि बुराई जीत रही है और अच्छाई कुंठित, निस्तेज एवं अप्रभावी होती जा रही है।

✧ हम चाहिए के बजाए, करने की प्रतिबद्धता गाँधीजी के जीवन से सीख सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के पास अच्छे विचारों की कमी नहीं है, लेकिन यह केवल बौद्धिक खुजली तक सीमित एवं केन्द्रित रह जाता है। हम करने पर जोर दें, गाँधीजी की तरह शुरुआत छोटे कामों से हो सकती है। पेड़ लगाए जा सकते हैं, बीमार को एक फल दिया जा सकता है और एक गरीब से मीठे बोल बोले जा सकते हैं।

✧ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि हम करना भी चाहें तो क्या कर सकते हैं? सूचना का अधिकार अधिनियम २००५ के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के पास एक ऐसा अस्त्र है जो प्रशासन को संवेदनशील बना सकता है। मैंने स्थानीय सड़क एवं शुगर मिल के

बारे में कुछ ऐसी ही पहल की, जिसका जबरदस्त प्रभाव सामने आ रहा है। हमारे आस-पास ऐसे कई मामले हैं, जहाँ हम दस रुपये की राशि अदा कर सूचना के अधिकार द्वारा एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकते हैं।

✧ हम किसी न किसी परिवार की व्यवस्था में जी ही रहे हैं। हम प्रत्येक परिवार को मंदिर जैसा पवित्र और प्रकृति जैसा सहज बना सकते हैं। हो सकता है कि हम एक बड़े राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था के प्रति परिवर्तन का क्रांतिकारी प्रयास न कर पाएँ लेकिन हम एक परिवार को उत्सव संगीत का केन्द्र बना सकते हैं। प्रत्येक परिवार कलह का केन्द्र बनता जा रहा है और इसी कलह का प्रतिफलन है वैश्विक समस्याएँ, ऐसा मेरा मानना है। अगर एक परिवार भी शांत सुखी व समृद्ध बनता है तो उसी अनुपात में हम एक खूबसूरत दुनिया के रचियता बन जाते हैं।

✧ बच्चों की परवरिश भी ऐसा ही एक अहम मुद्दा है। एक बच्चा ही आगे चलकर एक सामाजिक धरोहर एवं राष्ट्र का नागरिक बनता है। बच्चों का विकास एवं शिक्षा इस प्रकार से होनी चाहिए कि एक अच्छे व्यक्ति का सहज और सरल निर्माण हो सके। साधारणतया हम बच्चों के प्रति कम संवेदनशील होते हैं और यही बच्चा जब एक बिगड़ा हुआ वयस्क बन जाता है तो हम सिर पीटते हैं।

✧ हम— भौगोलिक पर्यावरण के प्रति संवेदनशील बनें। मनुष्य के समक्ष सर्वाधिक बड़ा खतरा पर्यावरण असंतुलन का है। हम अपने और आस-पास के जीवन में थोड़ा सा ध्यान दें तो हमें पता चलेगा कि हम पर्यावरण का किस प्रकार दोहन कर रहे हैं। एक कागज के पेज का दुरुपयोग करते वक्त भी हमें यह याद रखना होगा कि वृक्ष की कटाई के लिए हम भी जिम्मेवार हैं। कागज वन की लकड़ी से निर्मित होते हैं। ऐसे ही हमारा प्रत्येक कृत्य

पर्यावरण के रक्षण एवं भक्षण से संबंधित हो सकता है।

❖ हम सामाजिक रूप से थोड़ा संवेदनशील बन सकते हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण लगता है कि भारत में आज भी पचास प्रतिशत से ज्यादा लोग दोनों वक्त का भोजन नहीं जुटा पाते हैं और यही भारत विश्व के दस देशों में से एक है जहाँ मोटे लोगों की आबादी सबसे ज्यादा है। समाज में भौतिक समृद्धि और दरिद्रता पहले भी थी, लेकिन आज के भारत में धनिकों में समाज के सबसे पिछड़े लोगों के प्रति घातक रूप से असंवेदनशीलता बढ़ती जा रही है। अंग्रेजी साहित्यकार जार्ज बर्नाड शॉ का मानना है कि 'समाज में तब तक एक व्यक्ति की अमीरी नहीं टिक सकती है जब तक १६ व्यक्ति गरीबी में जी रहे हों।' हमारे आस-पास भय, असुरक्षा एवं अपराध का जो वातावरण निर्मित हुआ है उसके लिए यह असंवेदनशीलता भी कहीं न कहीं अवश्य जिम्मेवार है। छोटे-छोटे प्रयासों से हम न केवल अपनी खुशी बढ़ा सकते हैं बल्कि समाज के इस दीन-हीन वर्ग में आत्मविश्वास एवं साहस का संचार कर सकते हैं। मसलन-बच्चे का महंगा जन्मदिन मनाने से बेहतर है हम अनाथालय में कुछ बच्चों के लिए आवश्यक पुस्तकें खरीद दें। विवाह एवं यज्ञ जैसे महंगे सामाजिक एवं धार्मिक आयोजनों को भी मर्यादित कर वंचित वर्गों को साधन सम्पन्न बनाया जा सकता है। इस परोपकारिता एवं सदाहृदयता के लिए बिल गेट्स जैसे विश्व का सबसे अमीर व्यक्ति होना आवश्यक नहीं है, हम स्वयं भी एक सामाजिक क्रांति के वाहक बन सकते हैं।

❖ जे.एस. मिल का कहना है कि किसी सभ्यता का आकलन इस बात से किया जा सकता है कि वह महिलाओं के साथ कैसा व्यवहार करता है? हमारा व्यवहार महिलाओं के साथ सम्यक नहीं है। वेद, उपनिषद् एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों को छोड़ अपने

आस-पास के माहौल में महिलाओं को देखने पर निराशा होती है। हमारा व्यवहार महिलाओं के साथ गरिमापूर्ण नहीं है। महिलाएँ ही एक परिवार की केन्द्र होती हैं और एक परिवार ही एक खुशहाल विश्व का केन्द्र हो सकता है। एक सुन्दर विश्व के सपने को साकार बनाने के लिए महिलाओं के प्रति हमें अपने नजरिए में परिवर्तन लाना ही होगा। बहन, बेटी, माँ, मित्र, पत्नी जिस रूप में भी महिलाओं के साथ हमारे सामाजिक संबंधों का विस्तार है, उसे हम एक नई गरिमा प्रदान कर सकते हैं।

❖ ऊपर वर्णित सभी प्रयासों को फलीभूत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्वयं ही आनंदित हों। एक दुःखी व्यक्ति से किसी कल्याण की कामना मात्र छलावा है। हम आनंदित कैसे हों? इसके कई subjective उत्तर हो सकते हैं परन्तु हम स्वयं ही अपना एकाउण्ट ऑफ हैप्पीनेस विकसित कर सकते हैं। समाज में जिसे आम-व्यक्ति कहा जाता है वह केवल पैसे का हिसाब-किताब रखता है। समाज में जिन्हें हम सफल कहते हैं, वे अपने समय का भी विशेष ख्याल रखते हैं। मसलन वे हफ्ते भर का appointment fix करते हैं परन्तु कोई भी व्यक्ति अपने खुशियों के एकाउण्ट के बारे में सजग नहीं होता है। हमने जीवन के छोटे-छोटे कृत्यों में आनंद के कितने सीप बटोरे? यह समय और धन के लेखा-जोखा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

व्यक्तिगत रूप से चैतन्य, पारिवारिक रूप से सोहार्दपूर्ण, सामाजिक रूप से संवेदनशील एवं राजनैतिक रूप से जागरूक होने से पूर्व आवश्यक है कि हम अपने आनंद के एकाउंट की समृद्धि में कोई चूक न करें।

●  
**अगर देशभक्ति का मतलब व्यापक मानव-मात्र का हित-चिन्तन नहीं है, तो उसका कोई अर्थ ही नहीं है।**  
—महात्मा गाँधी



## उपभोक्तावादी संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव

डॉ० राजनाथ

वर्तमान में पूरे विश्व का चारित्रिक या नैतिक पतन तेजी से हो रहा है। इन्हीं नैतिक मूल्यों के पतन के कारण ही विश्व मानवतावाद का नारा खोखला साबित हो रहा है। आज पश्चिमी दुनिया ने अपनी आर्थिक एवं सैन्य शक्ति में वृद्धि करने के लिए सारी सीमाओं को तोड़ दिया है। अधिक से अधिक व्यापारिक लाभ के लिए मानव समाज का शोषण हो रहा है। पश्चिमी सभ्यता उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ा रही है ताकि वह अधिक से अधिक अपने व्यापार को बढ़ा सके। भारत भी उपभोक्तावादी संस्कृति में अच्छी तरह उलझता जा रहा है यही कारण है कि भारत में भी अब मानवता, नैतिकता, चारित्रिकता पर बल न देकर अधिक से अधिक वस्तुओं के उपभोग के लिए धनप्राप्ति पर जोर दिया जा रहा है।

इस देश का दुर्भाग्य है कि जहाँ संस्कृति एवं सभ्यता से प्रभावित होकर ईश्वर के रूप में राम, कृष्ण आदि लोगों ने अवतार लिया, जहाँ धरती पर देवी, देवता भी आने के लिए तरसते हैं, जहाँ एक से एक ऋषि एवं महर्षियों ने जन्म लिया एवं अपने कर्मों से इस भारत भूमि को धन्य किया, जहाँ की संस्कृति दया, अहिंसा, त्याग, क्षमा, दान, मिल-बाँट कर खाओ, जीओ और जीने दो तथा पूरे विश्व को परिवार के रूप में देखने की थी, वही देश आज पश्चिमी घृणित संस्कृति की ओर टकटकी लगाये बैठा है, और हर संभव उसे अपना रहा है। पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता जो पूर्ण रूप से हिंसा पर आधारित है, जहाँ मानवता का कोई मूल्य नहीं है, नैतिक चरित्र नहीं है, के आगे आज हमारी भारतीय संस्कृति एवं उसके मूल्य बौने साबित हो रहे हैं। पश्चिम की संस्कृति लूट – खसोट पर आधारित है। यही कारण रहा है कि सिकन्दर से

लेकर जार्ज बुश तक दूसरे राष्ट्रों की धन सम्पदा एवं सुख शान्ति भंग करने में लगे हैं और कत्लेआम तक करते चले आ रहे हैं। इतिहास के विद्यार्थी इसे अच्छी तरह से जानते हैं। इस्लाम या ईसाई मत के इन धर्मों या संस्कृतियों का मकसद रहा है कि हम अपने धर्म या संस्कृति का अधिक से अधिक विस्तार करके पूरे विश्व पर अधिकार जमा लें, भारत आज इन संस्कृतियों से जूझ रहा है। कश्मीर में इस्लाम धर्म या संस्कृति का विस्तार, पूर्वोत्तर भारत में ईसाई मत के प्रसार के लिए प्रायः कत्लेआम देखने को मिल रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जिस पूर्वोत्तर में हिन्दू आबादी ८० प्रतिशत थी वह आज घटकर ५० प्रतिशत के आस-पास रह गयी है।

वैश्विक उपभोक्तावादी संस्कृति को भारत ने तेजी से अंगीकार किया है या कर रहा है। पश्चिम के उपभोक्तावाद में हिंसा नजर आती है। भारतीय संस्कृति का एक अच्छा उदाहरण हम यह देख सकते हैं कि भारत में कर के बारे में कहा गया है कि जनता से कर का दोहन इस प्रकार हो जैसे कि भंवरे फूलों से मधु को लेते हैं अर्थात् भौंरा मधु भी ले लेता है और फूल पर किसी भी प्रकार का असर नहीं होता है। वैसे ही कर देने वाली जनता पर भी किसी प्रकार का असर नहीं होना चाहिए। इसी संदर्भ में पश्चिमी संस्कृति कहती है कि इस प्रकार वसूलो जैसे एक बतख को ऐसे नोचो की वह कम से कम फड़फड़ाये। यह संस्कृतियों के अन्तर के कारण ही है।

भारत की संस्कृति धन संग्रह पर जोर नहीं देती है, यह संस्कृति अपरिग्रह की बात करती है। मनुष्य जो धन कमाता है उसे अपने खर्च से अधिक होने पर अपेक्षित लोगों में बांट देना चाहिए या दान कर देना चाहिए। जबकि पश्चिम की संस्कृति में

संग्रह की बात पर जोर दिया जाता है। यही कारण है कि भारत के वसुधैव कुटुम्बकम् की बात पश्चिम ने कभी नहीं मानी क्योंकि हमारी वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना आध्यात्म प्रधान थी, पूरे विश्व को समान मानने की थी। आज अमेरिका एवम् यूरोपीय देश वैश्वीकरण अथवा पुरा विश्व एक ग्राम है, का नारा दे रहे हैं क्योंकि उन्हें अब विकासशील एवं अविकसित देशों का आर्थिक दोहन करना है। इनका यह नारा दोहन के लिए दिया गया है जबकि भारत ने कभी भी ऐसा नहीं सोचा होगा। वैश्विक उपभोक्तावाद के कारण भारत में भी उपभोग की संस्कृति में वृद्धि हुई है। यहाँ पर भी अब सभी नैतिक मूल्यों को ताक पर रखकर अधिक से अधिक धन की प्राप्ति करना चाहते हैं। उन्हें इसके लिए चाहे कुछ भी करना हो वे कर रहे हैं।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। यत्रै तास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्त त्राफलाः क्रियाः।। अर्थात् भारतीय संस्कृति में नारी सदैव पूज्य मानी गयी है। इस असार संसार के समस्त चराचरात्मक सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में नारी की सत्ता विद्यमान है। बिना नारी के सृष्टि की रचना, पालन या कल्याण कुछ भी संभव नहीं है। भारतीय नारियों में सीता, गार्गी, मैत्रेयी, अहिल्या, सावित्री एवम् शकुन्तला जैसी गौरवान्वित करं देने वाली स्त्रियों की परम्परा रही है। स्त्रियों को भारतीय संस्कृति में माता, बहन व बेटी का आदर्श रूप मिला है लेकिन अब पश्चिमी उपभोक्तावाद के कारण भारत में भी आदर्श नारीवाद का लोप हो रहा है। धन संस्कृति में वृद्धि के कारण अब महिलाएं भारतीय संस्कृति को छोड़कर तेजी से आधुनिकता की ओर बढ़ रही हैं। भारतीय संस्कृति ने कभी भी अंग प्रदर्शन को मूल्य नहीं माना है परन्तु आज विश्व में अपने सौंदर्य का परचम लहराने वाली भारतीय सुन्दरियाँ इसी पश्चिमी उपभोक्तावाद के षड्यन्त्र की एक कड़ी मात्र हैं जो एक तीर से दो

निशाने लगा रही हैं। एक भारतीय संस्कृति की शक्ति सम्पन्न नारी को भोग्या बनाना व दूसरा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की उत्पादों की बिक्री करना। वैश्विक संस्कृति का विस्तार वर्ष १९६१ के बाद तेजी से बढ़ा है जिसके कारण सेवा के क्षेत्र में महिलाओं की हिस्सेदारी भी तेजी से बढ़ी है क्योंकि आज विज्ञान एवं उपभोग की वस्तुओं के प्रचार-प्रसार के लिए प्रत्येक जगह महिलाओं को ही लगाया जा रहा है।

नारी मुक्ति आन्दोलन भी पश्चिम की एक सोच समझी चाल है। भारत में नारी विचारों की स्वतंत्रता कम और वाह्य प्रतीकों को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है, जो कि व्यक्तिवादी प्रकृति पर आधारित न होकर नारी को परिवार से दूर तथा अराजक स्वतंत्रता की ओर ले जाती है। आज महिला स्वतंत्रता नहीं बल्कि स्वच्छन्दता चाहती है, कि अब उनके ऊपर किसी भी प्रकार की कहीं भी कोई भी बन्दिश न हो। महिलायें हमेशा शक्ति स्वरूपा के रूप में पूजी गई हैं। महिलाओं को संसार की सृष्टि की संरचना करने वाली कहा गया है। परन्तु अब तो पश्चिमी संस्कृति के कारण महिलायें अपनी मातृत्व शक्ति में भी बदलाव चाहती हैं और कर भी रही हैं। महिलाओं के नैतिक मूल्यों में कमी के कारण ही परिवारों में विघटन तेजी से बढ़ा है। नारी की ओछी स्वतंत्रता की खोज ने 'मातृ देवो भवः' का उद्घोष करने वाले देश की बुनियाद हिला दी है। भारतीय होते हुए, तभी तो फिदा हुसैन जैसे चित्रकार ने हमारी देवियों का अपमान करने का साहस किया। जीवन में ओछी ख्याति के चक्कर में दीपा मेहता जैसी फिल्म निर्मात्री भारतीय संस्कृति पर कीचड़ उछालने का साहस कर सकी हैं। स्वतंत्रता एवं स्वच्छंदता के लिए किये जा रहे प्रयासों ने न केवल नारियों के लिए बल्कि पूरे समाज के लिए असुरक्षा व अनिश्चितता का



माहौल पैदा कर दिया है।

भारत अपने को अपनी आंखों से देखना भूल गया है। अपने को देखने के लिए विदेश की दृष्टि की आवश्यकता पड़ रही है और अपने को समझने के लिए विदेशी भाषा एवं बुद्धि की। अपने पर न तो विश्वास है और न ही स्वाभिमान। राष्ट्र को समझने के लिए नेशन समझना पड़ता है और नेशन ही राष्ट्र होता है। धर्म को जानने के लिए रिलिजन और मजहब जानना पड़ता है और रिलिजन तथा मजहब ही धर्म होता है। नेशन के आते ही राष्ट्र का भाव ही मिटा दिया, धर्म की भावना ही समाप्त हो गई और संस्कृति की चेतना को ही भुला दिया। अब तो नेशन छा गया। मजहब बस गया और कल्चर थिरकने लगी।

संस्कृति समाज के जीवन का आधार है। पश्चिम सामाजिक आवश्यकता पर आधारित यथार्थवाद की विवेचना करता है। वहाँ यथार्थवाद भौतिकवाद है। स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि पाश्चात्य जगत के लोग केवल भौतिकवाद से परिचित थे। उन्होंने दुनिया के सामाजिक जीवन को जानने के लिए कोई आध्यात्मिक आधार नहीं अपनाया। उनकी परमार्थिक दृष्टि न थी। उनकी संस्कृति व्यक्ति विशेष के मत पर आधारित थी। भारत की संस्कृति में व्यक्ति विशेष मात्र के बौद्धिक मत को बिना किसी परीक्षण के स्वीकार नहीं किया गया है। स्वामी विवेकानन्द ने पूर्वी सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता के उद्गम आधार के अन्तर-वैषम्य को समझाया है। वे कहते हैं कि पूर्वी सभ्यता (एशियाई सभ्यता) का विकास मैदानी भाग और नदियों के आस-पास हुआ। सभ्यता का मूल आधार कृषि था। लोगों के दिलों पर प्रकृति की दिव्यता का असर था। पश्चिमी सभ्यता (यूरोपीय सभ्यता) समुद्री तटों पर पनपी। वहाँ प्रकृति की दिव्यता न होने के कारण बल-दस्युता और समुद्री डकैतों का प्रभाव

पड़ा। इस सभ्यता की प्रजातियों ने वाणिज्य तथा कल्याणकारी धर्म की रक्षा तलवार के बल पर की। दूसरे शब्दों में इसे सांस्कृतिक आक्रमण भी कहना उचित होगा। संस्कृति को समझने के लिए सभ्यता शब्द की आधारभूत तत्त्व के रूप में सर्वज्ञ मान्यता है। पश्चिमी विश्व की मान्यता है कि पूर्व की सभ्यता का संस्कार बाद के लिए संस्कृति है। अटोमन साम्राज्य के विस्तार में दस्यु संस्कृति के उदाहरण मिलते हैं। ऐसे आघात न सह पाने के कारण यूनान, रोम, बेबीलोन तथा मिश्र की पुरानी संस्कृति चरमरा गई। भारतीय संस्कृति ने सैकड़ों बाहरी तलवारधारी सांस्कृतिक आक्रमणों को सहा। भारतीय संस्कृति कभी पराजित नहीं हुई परन्तु आज उपभोक्तावादी पश्चिमी संस्कृति के सामने भारतीय संस्कृति असहाय सी नजर आ रही है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि आज पूरी की पूरी दुनिया में उपभोक्तावादी संस्कृति का विस्तार तेजी से हो रहा है, इसी कारण आर्थिक क्षेत्रों में भी परिवर्तन दिखाई दे रहा है। भारतीय संस्कृति में नैतिक मूल्यों में गिरावट, साधारण मनुष्य के साथ-साथ यहाँ के साधु-सन्यासियों में भी तेजी से देखी जा रही है। इन लोगों का भी एक मात्र उद्देश्य मानव कल्याण न होकर धन संग्रह हो गया है। जिसके कारण मठों के मठाधीश होने के लिए अब हत्याएँ और मुकदमें तेजी से हो रहे हैं। उच्चतम न्यायालय के वर्तमान न्यायाधीश मारकण्डेय काटजू जी ने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में एक बार अपने उद्बोधन में कहा था कि जहाँ समाज के विवादों को सुलझाने का काम साधु-सन्यासी या मठों के द्वारा किया जा था आज वे ही सबसे अधिक मुकदमें लड़ रहे हैं। यह सब नैतिक मूल्यों में कमी के कारण या भारतीय संस्कृति में गिरावट के कारण ही देखा जा रहा है।

उपर्युक्त सभी समस्याओं का समाधान भारतीय संस्कृति एवं नैतिक मूल्यों पर आधारित धर्म का पालन करने पर अपने आप हो जायेगा। भारत की संस्कृति पुरुषार्थ से संचालित होती है। पुरुषार्थ यानि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। भारत की संस्कृति में हमेशा यह कहा गया है कि अर्थ, धर्म से संचालित होता है। अर्थ की प्राप्ति धार्मिक अनुष्ठानों के साथ-साथ पारिवारिक पालन-पोषण के लिए होनी चाहिए। हमारे समाज ने अनैतिक या असामाजिक रूप से प्राप्त किये गये धन को कभी भी मान्यता नहीं दी है। महात्मा गांधी ने भी अर्थ संग्रह को कभी स्वीकार नहीं किया। उनका विचार था कि मनुष्य जो धन प्राप्त करता है या अपने परिश्रम से अर्जित करता है वह उसका स्वामी नहीं बल्कि ट्रस्टी है। इसीलिए गांधी जी ने ट्रस्टीशिप का विचार दिया। उनका मानना था कि मनुष्य जो धन अर्जित करता है वह यदि उसके उपभोग से अधिक है तो उसे उस धन को अपने आस-पास गरीबों में बांट देना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो उस व्यक्ति को उस धन की रक्षा ट्रस्टी के रूप में करनी चाहिए। गांधी जी धन संग्रह को बहुत बुरा मानते थे। इसीलिए तो उन्होंने पूंजीपतियों की तुलना एक चोर से की है। यदि सभी बुराइयों से बचना है तो देश में भारतीय संस्कृति को बढ़ावा देना होगा। मानवतावादी प्रवृत्ति मनुष्यों में लानी होगी क्योंकि आज लोगों से मानवता दूर हो रही है। मानवता दूर होने के कारण भी अप-संस्कृति बढ़ रही है। इन अपसंस्कृतियों के कारण ही किसी कवि को लिखना पड़ा कि—

स्वानों को मिलता दूध-भात,  
भूखे बालक अकुलाते हैं।  
माँ की हड्डी से चिपक,  
जाड़े की रात बिताते हैं॥

### प्रशंसा से परोपकार

दूसरे महायुद्ध की बात है। एक जापानी सैनिक गंभीर रूप से घायल हो गया था, काफी रक्त बह चुका था, ऐसा लग रहा था, वह कुछ ही क्षणों का मेहमान है।

एक भारतीय सैनिक की मानवता जागी, शत्रु है तो क्या? मरते हुये को पानी देना, मानवता के नाते धर्म है। मृत्यु के आखिरी क्षणों में शत्रुता कैसी? उसने अपनी बोतल से पानी निकाला, घायल सैनिक के मुँह से लगाया बोला— मित्र, बुद्ध के देश में इस सैनिक के हाथों की वीरता, युद्धभूमि में देख चुके हो। अब स्नेह भी देखो, जल पीओ।

किन्तु उस दुष्ट ने दया का बदला यह दिया कि अपने चाकू से भारतीय सैनिक को घायल कर दिया। रक्त की धारा बह चली, घायल भारतीय सैनिक गिर पड़ा। दोनों ही की मरहम पट्टी की गई। धीरे-धीरे दोनों ही ठीक हो गए।

ठीक होने पर फिर भारतीय सैनिक, जापानी सैनिक से मिलने चला गया। उसकी कुशलक्षेम पूँछी और फिर चाय का प्याला दिया, गरम-गरम चाय पिलाई। जापानी सैनिक का मन पश्चाताप से भर उठा, उसे अपने किये पर आत्मग्लानि हो रही थी। उसने भारतीय सैनिक से कहा— दोस्त अब मैं समझा कि बुद्ध का जन्म तुम्हारे देश में क्यों हुआ था।

मनुष्य की सोई हुई मानवता कभी भी जाग्रत होकर, परोपकार के अद्भुत कर्म करा सकती है। वे कार्य जो मनुष्य किसी भी सांसारिक लोभ के वश में होकर नहीं करता, अन्तरात्मा के दैवी प्रभाव में एकाएक कर बैठता है। अन्दर की अन्तरात्मा जाग कर उसे परोपकार के शुभ कार्यों की ओर तीव्रता से प्रेरित करती है।



## वैश्वीकरण का संविधान और राजनीति पर प्रभाव

डॉ० जयकुमार मिश्र

वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण राष्ट्रों की भौगोलिक सीमाओं से परे आर्थिक सहयोग की प्रक्रियाओं एवं उनके प्रबंधन का मुक्त प्रवाह है। विश्व अर्थव्यवस्था में आया खुलापन, आपसी जुड़ाव और परस्पर निर्भरता के फैलाव को वैश्वीकरण कहा जा सकता है। उदारीकरण और निजीकरण, वस्तुतः वैश्वीकरण के ही उपांग हैं। उदारीकरण की प्रक्रिया एक प्रकार से “व्यवस्था का आमूल-चूल परिवर्तन” है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ‘विश्व व्यापार संगठन’ और राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न देशों में कार्यरत सरकारें आज वैश्वीकरण के पोषक का कार्य कर रही हैं।

वैश्वीकरण एक परिवर्तन-बिन्दु है और कोई भी परिवर्तन राजनीति पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता और जब राजनीति प्रभावित होती है तो स्वाभाविक रूप से संविधान उससे पृथक् नहीं रह पाता। वैश्वीकरण ने श्वेत और श्याम दोनों प्रकार के प्रभावों को जन्म दिया है। इसने सूचना प्रौद्योगिकी में भारत को तीव्र छलांग लगाने में मदद की, अर्थव्यवस्था को नयी ऊँचाइयाँ दीं, विदेशी मुद्रा भंडार को भरने में सहायता की, इसने शिक्षा व प्रगति के नए-नए द्वारों को खोल दिया। यही नहीं, लगभग सभी शैक्षणिक अनुशासनों में नवीन शाखाओं का सृजन किया। कुल मिलाकर देश की छवि साफ-सुथरी बनाने का साधन बना।

वैश्वीकरण के जो नकारात्मक प्रभाव देखने में आ रहे हैं, वे उसके अनअपेक्षित उप-उत्पाद (By Product) हैं। लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि वैश्वीकरण के नकारात्मक प्रभाव विकासशील देशों में ही खुलकर सामने आ रहे हैं क्योंकि विकसित देशों में विकासशील देशों की भाँति

सामाजिक-आर्थिक संरचना नहीं पाई जाती। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, वैश्वीकरण के कारण विदेशी पूँजी तो आयी किन्तु इसका निवेश केवल उन्हीं राज्यों में हुआ जो पहले से ही एक विकसित आर्थिक ऋतु ढाँचा रखते थे। भारत में पहले से ही कुछ राज्य सम्पन्न और कुछ राज्य निर्धन थे, वैश्वीकरण के कारण आयी नवीन पूँजी भी सम्पन्न राज्यों में ही लगायी गयी, इसका परिणाम यह हुआ है कि भारत में निर्धन और सम्पन्न राज्यों ने आपस में मिलकर G-8 नामक संगठन बनाया है वहीं 'BIMARU' राज्य भी हैं। देश के भीतर इकाई-राज्यों के बीच निरंतर बढ़ती आर्थिक खाई हमारी संघीय व्यवस्था के लिए खतरा बन सकती है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णयों में संघीय प्रणाली को संविधान का आर्थिक ऋतु ढाँचा घोषित किया है। अतः संघीय प्रणाली को दुर्बल बनाने वाली कोई भी बात संविधान की मूल संरचना पर प्रहार करेगी।

वैश्वीकरण के कारण कर्नाटक, आंध्रप्रदेश आदि जैसे विकसित राज्यों में उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे पिछड़े राज्यों से मजदूर और युवा वर्ग जाकर रोजगार प्राप्त करना चाहता है, किन्तु विकसित राज्यों के निवासियों को लगता है कि उनके राज्य में रोजगार के अवसरों को अन्य राज्यों के लोग आकर हथिया रहे हैं। इस सोच से तनाव बढ़ता है। क्षेत्रवाद की भावना देश की ‘एकता और अखण्डता’ (यह शब्द संविधान की प्रस्तावना में वर्णित है) के विरुद्ध है।

वैश्वीकरण के कारण सभी देशों के निवासियों के समक्ष अवसरों की संख्या काफी बढ़ गई है, किन्तु इन अवसरों का लाभ केवल आर्थिक एवं भौतिक क्षमता से सम्पन्न वर्ग ही उठा पाया है। इन

अवसरों का लाभ गरीब-मजदूर या मेहनत करने वाला वर्ग नहीं उठा पाया है। इससे समाज में एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच की दूरी/खाई बढ़ रही है। भारत में जिसे OBC, S.C. और S.T. कहा जाता है, उसके अधिकांश सदस्य इन अभिनव अवसरों से वंचित हैं। इससे सामान्य वर्ग तथा पहले से ही आरक्षण प्राप्त वर्ग के बीच खाइयाँ बढ़ रही हैं। पंचायती राज व्यवस्था के कारण पिछले एक दशक में जहाँ राजनीति ने समाज के निचले वर्ग में अपनी पैठ मजबूत की है अर्थात् उनकी राजनीतिक सहभागिता बढ़ी है। वहीं अर्थव्यवस्था में आए नवीनतम परिवर्तन के लाभ निचले स्तर तक नहीं पहुँच सके हैं, ऐसी स्थिति में यह वर्ग वैश्वीकरण के प्रति अपनी प्रतिबद्धता अनवरत कैसे बनाये रख सकता है?

देश में सरकारी नौकरियाँ तो पहले से ही कम थीं, वैश्वीकरण के हा एक पहलू निजीकरण और विनिवेश के कारण आज सरकारी नौकरियाँ सिमटती जा रही हैं और निजी उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन मिल रहा है। निजी क्षेत्र की कम्पनियों में कोई आरक्षण नहीं होता, फलतः भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना में निचले स्तर पर खड़ा वर्ग वैश्वीकरण का लाभ नहीं उठा पा रहा है। इसीलिए आज कुछेक राजनीतिक दल इस बात की माँग कर रहे हैं कि निजी क्षेत्र में भी सरकारी क्षेत्रों की भाँति ही आरक्षण प्रणाली लागू की जाय। क्यूबा की राजधानी हवाना में सन् २००० ई० में आयोजित G-7 के सम्मेलन में क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल-कास्त्रों ने कहा था कि, "इससे पूर्व इतिहास में कभी भी मानवजाति के पास इतनी क्षमता और अवसरों की संख्या नहीं थी, सम्पत्ति और कल्याण के सृजन की इतनी विश्वस्तरीय अर्हता प्राप्त नहीं थी, किन्तु इसके पूर्व विश्व में इतनी अधिक असमानता भी नहीं थी।" 'डिजिटल डिवाइड', 'इन्टेलिक्चुअल डिवाइड' और 'टेक्नोलॉजीकल गैप' आदि शब्द

आज न केवल राष्ट्रों के बीच अंतर दर्शाते हैं, बल्कि किसी एक राष्ट्र के भीतर के विभिन्न क्षेत्रों के बीच भी अंतर बताने के लिए उपयोगी हैं।

वैश्वीकरण के कारण विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों पर दबाव डालकर उनके कानूनों में परिवर्तन कराया गया है, या कराने का प्रयास जारी है। यह एक नयी और विलक्षण स्थिति है कि भारत को अपना पेटेन्ट कानून अध्यादेश लाकर बदलना पड़ा है, वहीं अमेरिका में सुपर-३०१ जैसे अतार्किक तथा प्रतिबंधकारी कानून विद्यमान हैं। यही नहीं अमेरिका में यह कानूनी प्रावधान अभी भी है कि यदि किसी व्यापारिक विषय पर अमेरिका के राष्ट्रीय कानून तथा W.T.O. के नियमों में टकराव हुआ तो U.S.A का कानून ही मान्य होगा। यह एक नए प्रकार का भेदभाव है।

वैश्वीकरण के इस युग में आज कोई भी देश अपनी विदेश नीति और यहां तक कि गृह नीति को भी स्वतंत्र रूप से दिशा नहीं दे सकता, यह स्थिति 'सम्प्रभुता' पर एक नए प्रकार के 'दबाव' की सूचना दे रही है। वस्तुतः राज्य आज 'संप्रभु' न होकर 'उपसंप्रभु' की स्थिति में हैं क्योंकि उसे इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक अन्य देशों का ध्यान रखना ही पड़ता है। पिछले वर्ष जब चीन ने अपनी मुद्रा 'युआन' का अवमूल्यन करना चाहा तो अमेरिका ने उसे ऐसा करने से रोक दिया, क्योंकि चीन यदि अवमूल्यन करता तो विश्व बाजार में उसके उत्पादन सस्ते हो जाते और उसका निर्यात बढ़ जाता; किन्तु इससे अमेरिकी कम्पनियों को नुकसान होता। आज समूचे विश्व की अर्थव्यवस्था इस प्रकार एक दूसरे से गुँथ गयी है कि यदि जापान की अर्थव्यवस्था में उछाल या मंदी है तो हेंगसेक (जापान), नेस्टेक (U.S.A), डुजांस (न्यूयार्क), निक्की (टोकियो), सेन्सेक्स (मुम्बई) आदि स्टाक-एक्सचेंजों में उछल-कूद होने लगती है। विकासशील देशों की



गृहनीति पर भी एक नए प्रकार का दबाव पड़ रहा है। पिछले दिनों जिम्बाब्वे पर प्रतिबंध इसलिए लगाए गये कि वहाँ जमींदारों (जो कि अधिकांश गोरे अंग्रेज हैं) से जमीनें लेकर राष्ट्रपति राबर्ट मुगावे एक नवीन सामाजिक आर्थिक संरचना चाहते थे, किन्तु इसे ब्रिटेन ने गोरे जमींदारों के विरुद्ध मुगावे की एक राजनीतिक चाल बताया। ऐसी स्थितियाँ किसी देश के नीति निर्माताओं अर्थात् व्यवस्थापिका तथा देश के नेतृत्व कर्ताओं अर्थात् कार्य पालिका पर एक नए प्रकार के दबाव की सूचना देती हैं।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की जबरदस्त प्रतिस्पर्द्धा से भारत की छोटी-बड़ी सभी प्रकार की औद्योगिक इकाइयाँ भारत के ही बाजार से बाहर होती जा रही हैं। पारले कम्पनी के उत्पादन लिम्का और थम्स-अप आदि का स्थान आज पेप्सी और कोकाकोला ले चुके हैं। टाटा व गोदरेज का विशाल साबुन बाजार आज हिन्दुस्तान लीवर द्वारा खरीदा जा चुका है। ऐसे में क्या यह आवश्यक नहीं हो जाता कि सार्वजनिक निगम और मजबूती से सामने आये ताकि इन बड़ी व विदेशी कम्पनियों के उत्थ्रंखल एकाधिकार से बचा जा सके। विनिवेश के साथ ही नए व मजबूत आर्थिक निगमों की स्थापना व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के नए दायित्व हैं। पिछले दिनों जिस प्रकार इन पेय-पदार्थों में कीटनाशकों की मात्राएं निर्धारित मानक से अधिक पाई गयीं वह चिंतनीय है। ये कम्पनियाँ विकसित देशों में जब उत्पादन करती हैं तो वहाँ इनकी गुणवत्ता के मानक उच्च होते हैं किन्तु जब ये भारत जैसे विकासशील देशों में उत्पादन करती हैं तो ये अपने मानकों की गुणवत्ता व उच्चता के प्रति गंभीर नहीं हो पातीं। ऐसे में यह प्रशासन की जिम्मेदारी है कि वह इन कम्पनियों से कड़ाई से प्रस्तुत हो। देश में विशेषज्ञों का एक विभाग बनाया जाय जो देश में वितरित होने वाले खाद्य-पदार्थों

का निरीक्षण व परीक्षण कर सके।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में लिखित शब्द 'समाजवाद' का आज कोई सक्रिय लक्ष्य नहीं रह गया है। वैश्वीकरण, निजीकरण, बाजारीकरण आदि के युग में सरकार की भूमिका केवल 'व्यापार का प्रशासन' तक ही सीमित मानी जाती है। अतः 'लोककल्याणकारी राज्य' की संज्ञा और संकल्पना पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

भारतीय संविधान में वर्णित नीति-निदेशक तत्व एक सामाजिक-आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिए सरकार से निरंतर प्रयत्न करते रहने की बात करते हैं। जबकि वैश्वीकरण की माँग है कि सरकार सामाजिक सुरक्षा, एवं लोककल्याण जैसे मुद्दों पर अपना नियंत्रण व नियमन हटाए। सरकार जहाँ देश के श्रमिकों को अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने हेतु औद्योगिक वातावरण भी बनाना चाहती है। पूँजीपतियों को अधिकाधिक सामाजिक सुरक्षा देना चाहती है तो वहीं पूँजीपतियों की इच्छा है कि पूँजी का विश्वव्यापी स्तर पर मुक्त प्रवाह हो जबकि विकासशील देशों के श्रमिकों का हित इस बात में है कि श्रम का विश्वस्तर पर उन्मुक्त प्रवाह सुनिश्चित किया जाय। 'श्रमिकों का हित सम्बर्द्धन' और 'पूँजीपति की योग्यता व क्षमता का दोहन' इन दोनों लक्ष्यों में सामंजस्य कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर खोजना प्रशासन व राज्य की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी है।

राज्य जहाँ व्यक्ति को एक 'व्यक्ति' के रूप में देखता है, वहीं बहुराष्ट्रीय निगम उसे केवल 'उपभोक्ता' के रूप में देख रहे हैं। ऐसे में भारतीय संविधान की प्रस्तावना में वर्णित शब्द 'व्यक्ति की गरिमा' में निहित भावों का कहाँ तक संरक्षण हो पाएगा— यह आने वाले कल का एक विचारणीय प्रश्न है। ●

# सभ्यताओं के संघर्ष का निहितार्थ और गाँधी जी की प्रासंगिकता

डॉ० विश्वनाथ मिश्र

मानव का आदि इतिहास यदि रक्त रंजित युद्धों कि कहानी से भरा हुआ है, तो यह भी सत्य है कि युद्धों के परिणामों ने मानव सभ्यता के निर्माण में भी अहम भूमिका का निर्वाह किया है। किन्तु, सभ्यताओं के विकास ने जब पुनः मानव जाति को युद्ध के मुहाने और अस्तित्व संकट की देहरी पर ला खड़ा कर दिया हो, तब सभ्यताओं के विकास की समीक्षा आवश्यक हो जाती है। सभ्यता क्या है? इसको समझे बिना समीक्षा का प्रयास आरम्भ ही नहीं हो सकेगा। सभ्यता को परिभाषा में निबद्ध करने से पूर्व इसकी अवधारणा के ऐतिहासिक विकास को समझना अधिक उपयुक्त है। सभ्यता की अवधारणा को अठारहवीं शताब्दी के फ्रेंच विचारकों ने 'बर्बरता' के विरोध में विकसित किया, इन विचारकों ने स्थायी जीवन, शहरी एवं साक्षर समाज को आदिम समाजों की तुलना में सभ्य बताया। इसके पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय लोगों ने पर्याप्त रूप से बौद्धिक, राजनयिक एवं राजनीतिक श्रम किया और उन समीकरणों को खोजने का प्रयास किया, जो गैर यूरोपीय लोगों को सभ्य कहलाने का आधार प्रदान कर सकें।

सभ्यता के ऐतिहासिक अवधारणात्मक विकास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभ्यता की सर्वमान्य परिभाषा सम्भव नहीं। क्योंकि, एक व्यक्ति या समूह के लिये जो सभ्य हो सकता है, सम्भव है वह दूसरे व्यक्ति या समूह के लिये असभ्य समझा जाय। सभ्यता मूलतः संस्कृति सापेक्ष अवधारणा है। संस्कृति को सर्वप्रथम परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'संस्कृति एक जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार,

कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य आदतों एवं क्षमताओं का समावेश रहता है, जिसे मानव समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।' एक अन्य विद्वान का कहना है कि, 'संस्कृति हमारे नित्य, प्रतिदिन के रहन-सहन की प्रकृति, साहित्य, धर्म, कला, मनोरंजन तथा उपभोग के बारे में हमारी अभिव्यक्ति है।' मैकाइवर ने कहा है कि, 'सभ्यता हमारा बाह्य है और संस्कृति हमारा अन्तर।' इस तरह हमारे संस्कारों की बाह्य अभिव्यक्ति सभ्यता है, संस्कृति और सभ्यता के मध्य कोई स्पष्ट विभाजक रेखा सम्भव नहीं है। सभ्यता संस्कृति का ही बृहद् रूप है। संस्कृति मानसिक रूप से एवं सभ्यता प्रकट रूप से मानव जीवन के मूल्य, प्रतिमान, विचार, संस्था, जीवनशैली आदि की अभिव्यक्ति है।

कुछ विचारकों ने प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति को अपने आप में पूर्ण कहा है। किन्तु, यह विचार सापेक्षिक रूप से ही सत्य है। यदि कोई भी सभ्यता एवं संस्कृति पूर्ण होगी तब अवश्य ही वह सम्पूर्ण मानवता के लिये ग्राह्य बन जायेगी और नाशवान नहीं रह जायेगी। परन्तु, अनुभव में हम प्रत्येक सभ्यता और संस्कृति को नाशवान और स्थान तथा पर्यावरण सापेक्ष ही पाते हैं। सभ्यता की विविधता एवं विशेषता को मुख्यतः दो तत्व प्रभावित करते हैं—

क) पर्यावरण की विविधता जो मानवीय आवश्यकताओं के स्वरूप एवं उनकी पूर्ति की पृष्ठभूमि तैयार करती है।

ख) सभ्यता के विभिन्न घटकों में आपसी समन्वय एवं अन्तःक्रिया।

सभ्यता के विभिन्न घटकों में आपसी समन्वय



एवं अन्तः क्रिया को मानवीय जीवन के आरम्भ से मानवीय प्रक्रिया में खोजा जा सकता है। आरम्भ से ही मानव तीन मोर्चे पर लड़ता हुआ दिखाई पड़ता है— प्रकृति के विरुद्ध, स्वयं अपने विरुद्ध तथा दूसरे मानवों के विरुद्ध। यह संघर्ष अनिवार्य रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध है, इसी कारण संघर्ष के परिणाम स्वरूप मिलने वाली शिक्षा और उससे बनने वाली व्यवस्था भी एक दूसरे संघर्ष में उपयोगी सिद्ध होती है। प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष से विज्ञान—तकनीकी, अपने विरुद्ध संघर्ष से धर्म—आध्यात्म तथा दूसरे मानवों के विरुद्ध संघर्ष से समाज—राज्य का विचार तथा संबल मानव को प्राप्त होता है। यही विज्ञान—तकनीकी, धर्म—आध्यात्म, समाज—राज्य तथा इनके बीच की अन्तःक्रिया सभ्यता के मुख्य घटक होते हैं। तार्किक रूप से मानव के लिये विज्ञान—तकनीकी, धर्म—आध्यात्म एवं समाज—राज्य समान महत्त्व के हैं, इनमें से एक को विशेष महत्त्व एवं दूसरे को गौण मान लेने पर मानव तथा विकास का स्वरूप विद्रूप हो जाता है। अतः सभ्यता एवं संस्कृति की पूर्णता उक्त तत्वों में समग्र सामन्जस्य से ही सम्भव है। अब तक की स्थापित सभ्यतायें इसी कारण पूर्ण नहीं हैं कि, किसी सभ्यता में धर्म, किसी में विज्ञान तथा किसी में समाज को प्रभावी भूमिका मिलती रही है। सभ्यता के इन्हीं विभिन्न घटकों के आपसी सामन्जस्य और अनुपात ने अलग—अलग सभ्यताओं की पहचान के लिये आधार भी तैयार किया है। फलतः सम्पूर्ण मानवता के एक होने पर भी सर्वग्राह्य सभ्यता एवं पूर्ण सभ्यता विकसित नहीं हो पायी है।

पूर्ण एवं सर्वग्राह्य सभ्यता का विकासित न हो पाना मानव जाति के लिये एक महत्त्वपूर्ण संकट है। इस संकट से भी गहन संकट है, किसी एक सभ्यता को दूसरे मानव समुदाय पर आरोपित करने का प्रयास। वर्तमान समय में पश्चिमी सभ्यता

(उदारवादी—उपभोक्तावादी) को जिस प्रकार प्रत्यक्ष एवं प्रच्छन्न रूप से विस्तार मिल रहा है वह भी महत्त्वपूर्ण संकट के रूप में प्रकट हो रहा है। कई बार एक सभ्यता को समझने के लिये जब दूसरी सभ्यता के आयातित दृष्टिकोण का सहारा लिया जाता है, तब भी सत्यार्थ विकृत रूप में ही प्रकट होता है।

वर्तमान समय में सभ्यताओं के जिस संघर्ष की बात की जा रही है, वह मूलतः पश्चिमी उदारवादी सभ्यता का ही आन्तरिक संकट है। एक ओर पश्चिमी उदारवादी सभ्यता पूर्ण नहीं है। दूसरी ओर यह सर्वव्यापी होने के लिये प्रयत्नशील है। इसी कारण सभ्यताओं के संघर्ष का संकट दिखाई पड़ता है, जबकि यह मूलतः पश्चिमी सभ्यता का आन्तरिक एवं स्वाभाविक संकट ही है। इस संकट की विवेचना के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर विमर्श आवश्यक है—

- (क) पश्चिमी उदारवादी सभ्यता पूर्ण क्यों नहीं है?
- (ख) सम्प्रति हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई सभ्यता का वर्गीकरण उपयुक्त है या नहीं?
- (ग) विज्ञान और राज्य व्यवस्था के बल पर पश्चिमी उदारवादी सभ्यता को स्थायी बनाया जा सकता है या नहीं?

पश्चिमी उदारवादी सभ्यता को पूर्ण नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस सभ्यता में सभ्यता के विभिन्न घटकों का समग्र अनुपात उपयुक्त एवं औचित्यपूर्ण नहीं है। विज्ञान एवं तकनीकी तथा समाज एवं राज्य ने पश्चिमी उदारवादी सभ्यता में धर्म एवं आध्यात्म को अत्यन्त गौण कर दिया है। वैज्ञानिक एवं आर्थिक मानव ने धार्मिक मानव को यदि मार नहीं डाला तो अत्यन्त कमजोर अवश्य कर दिया है। फलतः इस सभ्यता के मानव में आत्मचेतना कुंठित हो गयी है। धर्म एवं आध्यात्म के बिना मानव प्रकृति तथा दूसरे मानवों से संघर्ष

करता हुआ स्वचेतन हो सकता है, परन्तु आत्मचेतना स्वयं अपने विरुद्ध संघर्ष से ही आती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, घृणा आदि के बन्धनों से ऊपर उठने पर ही मानव आत्मचेतन होता है और इसके लिये धर्म तथा आध्यात्म ही संबल प्रदान करता है। विज्ञान एवं समाज के जोर से मानव स्वचेतन हो सकता है, आत्मचेतन नहीं। स्वचेतन मानव का प्रेम एवं सहयोग स्वार्थ के वशीभूत होता है, किन्तु प्रेम एवं सहयोग आत्मचेतन मानव में प्रवृत्तिगत गुण बन जाता है। आत्मचेतन मानव ही द्वन्द्वात्मक जगत में अखण्ड ऐक्य के निहितार्थ का साक्षात्कार कर सकता है, क्योंकि आत्मचेतन मानव की दृष्टि समग्रताबोध पर आधारित होती है। आत्मचेतन मानव का व्यवहार ही मानव मूल्य के प्रतिष्ठा के अनुकूल कर्मयोगी, सदृश बन सकता है। पश्चिमी उदारवादी सभ्यता ने स्वचेतन, भेदबुद्धि तथा द्वन्द्वज दृष्टि वाले मानव को संयुक्त किया है और यही भेद बुद्धि तथा द्वन्द्वज दृष्टि वर्तमान सभ्यता के संकट का एक महत्वपूर्ण कारण बन गया है।

संचार एवं वैज्ञानिक क्रान्ति तथा वैश्वीकरण के इस युग में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई या अन्य कोई सभ्यता ऐसी रह ही नहीं गयी है, जिसमें एक दूसरी सभ्यता से समानता के तत्त्व अधिक एवं पृथक्ता के तत्त्व कम न रह गये हों। सामान्य बोल-चाल में या बौद्धिक अवधारणा के क्षेत्र में जब हिन्दू, मुस्लिम या ईसाई सभ्यता की बात की जाती है, तब सभ्यता के सन्दर्भ में किसी तकनीकी विशिष्टता, यान्त्रिक विन्यास या आर्थिक प्रगति की बात नहीं होती। अपितु, मानसिक विन्यास, जीवनशैली, विचार पद्धति आदि की ही बात होती है। वैश्वीकरण के इस युग में वैश्विक स्तर पर आम जनता का मानसिक विन्यास, जीवनशैली, विचार पद्धति और सबसे बढ़कर विश्वदृष्टि एक रूप होती जा रही है। यदि कहीं कोई दो सभ्यता दिखाई भी पड़ती है, तब वह है समृद्धि की

सभ्यता और गरीबी की सभ्यता, आधुनिकता की सभ्यता और नष्ट होती हुई परम्परा की सभ्यता। मात्र पूजा (कर्मकाण्ड) पद्धति, वस्त्र एवं भोजन ही सभ्यता नहीं है, न ही विज्ञान एवं तकनीकीजन्य यान्त्रिक प्रगति और न ही समाज, अर्थव्यवस्था या राज्य का विशेष रूप ही सभ्यता है। सभ्यता, उक्त सभी का समग्र है और यह समग्रता आज पश्चिमी उदारवादी प्रतिमानों के प्रभाव से इस तरह आक्रान्त हो गयी है कि किसी भी सभ्यता में उसका मूल स्वरूप अब दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। आज जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह भौतिकतावाद, स्वार्थवाद, प्रतिस्पर्धा एवं उपभोगवाद की ही तस्वीर है। इसी कारण सभ्यताओं के संघर्ष का संकट मूलतः एक उपभोक्ता का दूसरे उपभोक्ता से, एक उत्पादक का दूसरे उत्पादक से, एक वितरक का दूसरे वितरक से एवं इन सबका प्रकृति से संघर्ष का संकट है। हिन्दू, मुस्लिम ईसाई सभ्यता के अस्तित्व को स्वीकारना अनुपयुक्त नहीं है, किन्तु इन सभ्यताओं की जो विशिष्टता परम्परा से चली आ रही थी, अब अक्षुण्ण नहीं रह गयी है और सभी सभ्यतायें मिश्रित प्रकार की हो गयी हैं और इस मिश्रण में पश्चिमी (ईसाई नहीं) सभ्यता के अंश की निर्णायक भूमिका है।

विज्ञान एवं राज्य व्यवस्था के बल पर पतनोन्मुख सभ्यता को कुछ काल के लिये विशेष जीवन प्रदान किया जा सकता है। इसे स्थायी और सर्वग्राह्य नहीं बनाया जा सकता है। पश्चिमी सभ्यता का जितनी तीव्रता से क्षैतिज विस्तार होता जा रहा है, उतनी ही तेजी से इसका बिखराव भी हो रहा है, अर्थात् इसका ऊर्ध्वाधर विकास नहीं हो रहा है। अन्ततः स्वयं पश्चिम ही अपनी इस सभ्यता को रूपान्तरित करेगा। आज भले ही विज्ञान के चकाचौंध एवं राजसत्ता की प्रबलता के आगे इस सभ्यता के विरोध में उत्पन्न होने वाली शक्तियाँ मौन



हो जाती हैं या मौन कर दी जाती हैं, किन्तु अन्तिम विजय इन्हीं शक्तियों की होगी। दो प्रकार की शक्तियाँ इस सभ्यता के विरोध में कार्य कर रही हैं। पर्यावरण, नारीवादी, मानवाधिकार एवं शान्तिवादी शक्तियों को हम उन सकारात्मक शक्तियों में वर्गीकृत कर सकते हैं, जो अन्ततः नयी सभ्यता के अग्रदूत बनेंगे। पर्यावरण संकट, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, मूल्यहीनता, भोगवाद जैसी शक्तियों को हम नकारात्मक शक्तियों में वर्गीकृत कर सकते हैं, जो अन्ततः पश्चिमी उदारवादी सभ्यता के विनाश का कारण बनेंगे।

वस्तुतः सभ्यताओं के संघर्ष का संकट उपर्युक्त विवरण से अन्यथा सिद्ध होने पर भी, सभ्यता के संकट के रूप में विद्यमान है। यह संकट वर्चस्व को बनाये रखने (विकसित देशों का प्रयास) और वर्चस्व को तोड़ने (विकासशील राष्ट्रों का प्रयास) तथा संसाधनों पर प्रभुत्व स्थापित करने के विरोधी प्रयासों का प्रतिफल है। इस प्रकार का संघर्ष अनादिकाल से चला आ रहा है, परन्तु संघर्षों का स्वरूप युगधर्म (पैराडाइम) के अनुसार बदलता रहता है और उनके व्याख्या की दृष्टि भी बदलती रहती है। संघर्ष के सम्पूर्ण प्रकरण की व्याख्या के लिये चार दशक पूर्व मार्क्स की अवधारणा ही सबसे अधिक प्रचलित थी, किन्तु प्रासंगिक होने पर भी वह हिंसा, आरोपित एकरूपता आदि के कारण इतिहास के द्वारा अन्यथा सिद्ध कर दी गई है। इन स्थितियों में एक आदर्श किन्तु व्यावहारिक चिन्तन की आवश्यकता है, जो इस विश्व को सभ्यता के संकट से त्राण दिला सके।

सभ्यता के संकट की इस घड़ी में गाँधी की प्रासंगिकता सबसे अधिक मुखर होकर सामने आयी है। गाँधी जी की प्रासंगिकता को समग्रता में ही समझा जा सकता है, खंडशः नहीं, अर्थात् यह नहीं हो सकता कि विचार गाँधी के और आचार भोगी

के। राजनीति गाँधी की और अर्थनीति पूँजीवाद की एक साथ नहीं चल सकती। महात्मा गाँधी मन, वचन और कर्म से एक थे। अतः जब सम्पूर्ण सभ्यता अपने को रूपान्तरित करने के लिये तत्पर हो रही हो, उसी समय गाँधी मार्ग सबसे अधिक मूल्यवान बन पड़ता है। गाँधी मार्ग में धर्म—आध्यात्म, विज्ञान—तकनीकी एवं समाज—राज्य समग्रता से एक दूसरे से समन्वित हैं। किसी को प्रभावी स्थिति प्राप्त नहीं है, अपितु सभी को समान महत्त्व प्राप्त है। उन्होंने धर्म, विज्ञान तथा समाज में एकत्व खोज निकाला और उसे जीवन में उतार कर दिखाया। गाँधी जी की यह विशेषता है कि उन्होंने श्रीमद्भगवत गीता के निष्काम कर्मयोग को व्यवहृत करके बताया। उन्होंने, 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' कहके जगत से पिण्ड नहीं छुड़ाया। अपितु, ब्रह्मचारी (ब्रह्म, एकत्व को जानने वाला) होकर शाश्वत एकत्व को समझकर जागतिक द्वैत के बीच आचरण की विधि को जीवन शैली बनाया। गाँधी जी यह भली—भाँति समझते थे कि "मानव जाति का भविष्य एकता में है। विज्ञान और आत्मज्ञान दोनों उस दिशा की ओर संकेत करते हैं। जो कुछ भी इसके रास्ते में बाधक रूप खड़े होंगे— राष्ट्र, जाति यहाँ तक कि धर्म यदि वह बांटने वाला है— उनको खत्म करना होगा।

गाँधी जी के लिये यह एकत्व क्या था? उनके लिये एकत्व 'सत्य' था। स्वयं गाँधी जी ने अपने लक्ष्य को सत्यरूपी परमेश्वर का साक्षात्कार बताया है। इसी राह में दूसरी प्रवृत्तियाँ और राष्ट्र के स्वतंत्रता युद्ध का कार्यक्रम आ गया। इन प्रवृत्तियों में उनका आग्रह सत्य और अहिंसा के प्रति यहाँ तक रहा कि इनसे हटकर हिंसक उपायों में भारत का स्वराज्य आता तो वह भी उन्हें मान्य नहीं होता। अतः स्पष्ट ही गाँधी के व्यक्तित्व और जीवन की भूमिका राजनीति से अधिक व्यापक और ऊँची थी। महात्मा गाँधी जी का जीवन कार्य मानव जाति

को सभ्यता के संकट से त्राण पाने के मार्ग का सूचक है।

सभ्यता के नवनिर्माण के लिये गाँधी जी से प्रेरणा मिलती है, उनकी दृष्टि में व्यक्ति तथा समाज एवं राज्य के हित, आध्यात्म एवं विज्ञान अलग-अलग और परस्पर विरोधी नहीं समझे गये हैं। गाँधी मार्गी सभ्यता का निर्माण 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' के मूल मन्त्र पर व्यक्ति, समाज, राज्य, धर्म, अर्थनीति और विज्ञान को निम्नलिखित सन्दर्भ में रूपान्तरित होना पड़ेगा।

**व्यक्ति :** महात्मा गाँधी व्यक्ति के शाश्वत अच्छाई में विश्वास करते थे। 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' की नीति के साथ व्यक्ति के शाश्वत शुभत्व का विचार ही संगतिबद्ध हो सकता है। हॉब्स या मैकियावेली की भाँति मानव को स्वार्थी, हिंसक और अहंकारी मान लेने पर राज्य के दमनात्मक शक्ति को भी स्वीकार करना ही पड़ता है और दमन गाँधीमार्ग के प्रतिकूल है। 'सत्य ईश्वर है' ऐसा स्वीकार करने के लिये सर्वत्र विधेयात्मक होना आवश्यक होता है क्योंकि सत्य अस्तित्व को स्वीकारना है, जबकि दमन एवं हिंसा अस्तित्व का विरोध करना है, सत्य को ईश्वर मानने वाली दृष्टि के भीतर व्यक्ति को सत्यानुरागी ही होना पड़ेगा, इसी कारण सभ्यता के नव निर्माण हेतु सत्याग्रही व्यक्ति की आवश्यकता होती है। प्लेटो के रिपब्लिक में शासक वर्ग ही सत्यानुरागी है, अल्प मात्रा में सैनिक वर्ग भी है; किन्तु उत्पादक वर्ग सत्यानुरागी नहीं है। गाँधी के चिन्तन में सत्यानुरागी होना मानव मात्र की विशेषता है। सत्यनिष्ठ (एकत्व को जान लेने पर) व्यक्ति ही अहिंसक, जितेन्द्रीय और समदर्शी हो सकता है। ऐसा व्यक्ति ही गाँधी की भाँति व्यावहारिक आदर्शवादी हो सकता है, जो सन्यासी एवं वैरागी नहीं होगा, अपितु कर्मयोगी होगा। श्रीमद्भगवत गीता में भी व्यावहारिक

आदर्शवादी का चित्रण है, जहाँ कहा गया है कि ज्ञानयोग (आदर्श को जानना) की अपेक्षा कर्मयोग (आदर्श को जानकर तत् सम्मत आचरण करना) विशिष्ट है,

*सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयस्करावुभौ।*

*तयोस्तु कर्मसन्यासात्मकर्म योगो विशिष्यते॥*

गाँधी मार्ग का व्यक्ति श्रीमद्भगवत गीता के निष्काम कर्मयोगी की ही तरह कर्मों का त्याग नहीं करता है, अपितु वह कर्मों के फलासक्ति का त्याग करता है। व्यक्ति-निर्माण का यह सिद्धान्त पूर्णतया वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित है, परन्तु सभ्यता के वर्तमान संदर्भ में इसे व्यवहृत नहीं किया जा सका है। कर्म यदि फल प्रदान नहीं करेगा तो स्वयं विज्ञान द्वारा समर्थित कार्य-कारण के सिद्धान्त का उल्लंघन हो जायेगा। अतः कर्मों के फल का मिलान अवश्यम्भावी है। ऐसी स्थिति में कर्म-फल के प्रति आसक्ति कैसी? गाँधी-दृष्टि वाला व्यक्ति अखंडमानव होता है और वह 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का आचरण करता है। इस प्रकार का मानव ही ऐसे नवीन सभ्यता का निर्माण कर सकता है, जहाँ एक सबके लिये और सब एक के लिये जीवन निर्वाह कर सकते हैं।

**समाज-राज्य :** गाँधी जी ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे, जहाँ सभी व्यक्तियों का सर्वविध कल्याण हो सके। इसके लिये सर्वोदयी समाज की स्थापना आवश्यक है। बेन्थम द्वारा प्रतिपादित 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण' की अवधारणा मानव जाति को एकता प्रदान नहीं कर सकती है। गाँधी जी के लिये प्रत्येक मानव का समान महत्त्व है, इसी कारण वे सबका कल्याण करने वाली समाज व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं। गाँधी जी के अनुसार व्यक्ति और समाज दो नहीं हैं। न व्यक्ति और विश्व दो हैं। ब्रह्माण्ड में वही है, जो पिण्ड में है। धर्म भी उससे



भिन्न दूसरा नहीं है। इसी तरह समाज, देश या विश्व को बनाने के लिये अपने ही संस्कार के बारे में असावधान नहीं रहना होगा। इसका तात्पर्य है कि, व्यक्ति निर्माण से ही समाज निर्माण सम्भव है। मार्क्स, लेनिन या माओ ने समाज बदलकर व्यक्ति को परिवर्तित करने का जो प्रयास किया था, वह इतिहास के द्वारा सर्वथा असफल घोषित कर दिया गया है। अतः अब समाज निर्माण के लिये व्यक्ति निर्माण का गाँधी मार्ग ही उपादेय हो सकता है। गाँधी मार्गी समाज अहिंसक समाज है। हिंसा के मूल में भय रहता है और हिंसा उसी भय की अभिव्यक्ति है। वर्तमान समय अहिंसा पर नहीं अपितु हिंसा पर आधारित समाज है, क्योंकि इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का प्रतिस्पर्धी है। प्रतिस्पर्धा जितनी तीव्र होती जाती है, प्रेम और सहयोग उतना ही सीमित होता चला जाता है और भय तथा असुरक्षा उतनी ही बढ़ती जाती है। गाँधीवादी समाज का संगठन कोई आरोपित व्यवस्था नहीं होगी अपितु यह व्यक्तियों के स्वतः स्फूर्त प्रेम-सहयोग, निष्काम कर्म, सत्याग्रह, इन्द्रिय-निग्रह, आत्मानुशासन एवं स्वदेशी पर निर्मित होगी।

गाँधी जी आत्मनिर्भर समाज की स्थापना पर बल देते थे, इसके लिये उन्होंने ग्राम राज्य की धारणा विकसित की। यहाँ ग्राम को बिल्कुल रूढ़ अर्थ में स्वीकार करना गलत होगा। गाँधी जी ने प्रत्येक ग्राम को आत्मनिर्भर बनाने का सुझाव दिया था। इससे स्पष्ट है कि, गाँधी जी प्राचीन परिपाटी की ग्राम धारणा को स्वीकार नहीं करते थे। वे यह भी समझते थे कि, बहुत बड़े समाजों का निर्माण विकेन्द्रीकरण, अहिंसा एवं आत्मनिर्भरता के मार्ग में बाधक बनेंगे। ग्राम-राज्य की धारणा स्वराज्य की धारणा से मिलकर ही आत्मनिर्भर ग्राम बनाती है। यहाँ गाँधी जी की स्वराज्य आर्थिक धारणा ही नहीं अपितु सामाजिक, राजनीतिक और सबसे बढ़कर

नैतिक धारणा है। अतः ग्राम-स्वराज्य का स्वप्न तभी साकार हो सकता है, जब प्रत्येक ग्रामवासी आत्मानुशासित, स्वयं अपने श्रम एवं संसाधनों पर निर्भर तथा अपने दायित्वों के प्रति सजग हो।

ग्राम स्वराज्य में जब राजनीतिक नियन्त्रण की सभी आवश्यकतायें समाप्त हो जायेंगी, तब रामराज्य का उदय होगा, यही रामराज्य गाँधी के सपनों का समाज है। यहाँ राज्य की उपादेयता अपने को समाप्त कर लेने में है, जहाँ उसके हस्तक्षेप की आवश्यकता ही न रह जाय। रामराज्य में राज्य ही अस्तित्वहीन नहीं हो जायेगा बल्कि सभी प्रकार की संगठित शक्ति का लोप हो जाएगा। गाँधी जी का विश्वास है कि, किसी भी प्रकार की संगठित शक्ति का अस्तित्व हिंसा का ही प्रतीक है। गाँधी जी का रामराज्य ऐसा समाज होगा, जहाँ अधिकारों की गारण्टी व्यक्ति के कर्तव्य होंगे। इस समाज में श्रम को प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच कोई मध्यस्थ नहीं होगा। रामराज्य में न कोई शासक होगा न ही कोई शासित। स्त्री और पुरुष के बीच का लिंगभेद जनित हिंसा भी समाप्त हो जायेगी और स्त्री को मात्र स्त्री नहीं अपितु व्यक्तित्व प्राप्त हो जायेगा।

**धर्म :** गाँधी विचार में किसी नवीन धर्म या मतवाद की बात नहीं की गई है। वे दुनियाँ के प्रत्येक धर्मों के प्रति समान आदर भाव रखते थे, किन्तु यह भी जानते थे कि, वर्तमान धर्मों के संस्थागत दोषों को दूर किये बिना आत्मोन्नति एवं मानव एकता सम्भव नहीं है। तात्त्विक रूप से भी सभी धर्मों में एक ही सत्य को उजागर किया गया है। तथापि, धर्म के सन्दर्भ में साकार-निराकार, आस्तिक-नास्तिक का बड़ा मतभेद है; इस कारण गाँधी जी ने ईश्वर के सन्दर्भ में ऐसी धारणा का प्रतिपादन किया जो सबको ग्राह्य हो। अपने विचार, आचार एवं अनुभव में गाँधी जी ने पाया कि सत्य

एक ही है और सत्य के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है, इसी कारण सत्य ईश्वर है। सत्य को ही ईश्वर मानना गाँधी जी की विलक्षण दूरदृष्टि एवं समन्वयवादी विचार को अभिव्यक्त करता है। सत्य को ईश्वर मानकर चलने से साकार-निराकार, आस्तिक-नास्तिक का प्रश्न हल हो जाता है, क्योंकि अस्तित्व को नकारना किसी के लिये भी सम्भव नहीं है। नैतिकता की देश काल एवं सम्प्रदायगत विभेद भी सत्य को नैतिकता का आधार बनाकर समाप्त किये जा सकते हैं। विज्ञान एवं धर्म के बीच की खाई को भी इसी एक महावाक्य (सत्य ईश्वर है) से पाटा जा सकता है। विज्ञान एवं धर्म दोनों सत्य का उद्घाटन करते हैं, अतः एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। दुनिया के प्रत्येक धर्म सत्य का ही उद्घाटन करते हैं, इसी कारण गाँधी जी ने हिन्दुओं से कहा-- सच्चे हिन्दू बनो और मुसलमानों से कहा-- सच्चे मुसलमान बनो। उनकी श्रद्धा थी कि अपनी-अपनी जगह सच्चे इन्सान बनने की कोशिश में से जो निकलेगा वही सत्य होगा। इस प्रकार गाँधी मत से नवीन सभ्यता के निर्माण के लिये विश्व के सभी धर्म उपयोगी एवं समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु तब, जब वे सच्चे अर्थों में व्यवहार में लाये जायें और आत्मोन्नति में सहायक हों।

**अर्थनीति :** गाँधी जी की अर्थनीति में श्रम की महत्ता को स्थापित किया गया है और कायिक श्रम को विशेष महत्त्व दिया गया है। गाँधी जी मुद्रा की शक्ति को श्रम की शक्ति से तिरोहित करना चाहते थे। उनकी अर्थनीति में स्वदेशी एवं स्वावलम्बन का भी विशेष महत्त्व है। स्वदेशी एवं स्वावलम्बन के अभाव में आज के अर्थनीति की जो विसंगतियाँ सामने आयी हैं, वह गाँधी जी की दूरदृष्टि से छिपी हुई नहीं थी। आज के अर्थशास्त्र में स्वार्थी व्यक्ति की परिकल्पना के विरोधाभासों को गाँधी जी समझते थे। विकास के लिये आज निर्यात को बढ़ाये रख

सकते हैं? गाँधी जी की अर्थनीति पर्यावरण अनुकूलन के सिद्धान्त पर कार्य करती है और इसमें व्यक्ति के श्रम की सामाजिक महत्ता होती है। गाँधी जी की अर्थनीति में बड़े उद्योगों का समर्थन वहाँ तक नहीं है जहाँ कि वे मध्यस्थों एवं परसेवा जीवियों को उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार अर्थव्यवस्था में मशीनों का प्रयोग वहाँ तक सीमित है, जहाँ तक कि वे मानवीय श्रम की प्रतिष्ठा को कम नहीं करते हैं। गाँधी जी की अर्थनीति उनके ग्राम स्वराज्य एवं आत्म-निग्रह के सिद्धान्त से भी प्रेरित है, वे जीवन को नितान्त भौतिकवादी एवं उपभोगवादी नहीं बनाना चाहते हैं। मार्क्स और लेनिन की भाँति गाँधी जी समाज से पूँजीपतियों को समाप्त नहीं करना चाहते अपितु पूँजीपतियों का सत्याग्रह से हृदय परिवर्तन करके उन्हें समाज के धन का संरक्षक बनाना चाहते हैं। इस प्रकार की अर्थनीति में ही मानव आर्थिक मानव न होकर एक संयुक्त मानव रह सकता है।

**विज्ञान :** गाँधी जी का जीवन सन्त की भाँति था, इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे पुरातनपंथी एवं अंधविश्वासी थे। वे एक पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि वाले व्यक्ति थे और तकनीकी क्रान्ति से परिचित थे। किन्तु, वे विज्ञानवाद के प्रति विशेष आग्रह में धार्मिक एवं नैतिक विचारों के प्रति दुराग्रही नहीं थे। वे यह जानते थे कि धर्म एवं आध्यात्म तथा विज्ञान एक सत्य को अलग-अलग पद्धतियों से उद्घाटित करने वाले साधन हैं। महात्मा गाँधी मानवीय मूल्यों की परिधि में ही विज्ञान को सीमित रखना चाहते थे, वे विज्ञान के अधिशासन के दुष्परिणामों को जानते थे। भौतिकतावाद को जीवनशैली बनाने वाले विज्ञान तथा उसके उत्पादों को गाँधी जी पसन्द नहीं करते थे। आज की सभ्यता में विज्ञान का प्राधान्य एवं इसके परिणाम स्वरूप भौतिकवाद की प्रगति जिस रूप में तीव्र हो रही है, उसी रूप में विकराल भी (शेष भाग पृष्ठ ४३ पर)



## मूल्योन्मुख शिक्षा : आधार एवं क्रियान्वयन

डॉ० प्रेम नारायण सिंह

शिक्षा अपने आप में एक मूल्यपरक अवधारणा और निरन्तर प्रवाहमान प्रक्रिया है। मनुष्य आजीवन कुछ न कुछ सीखता है जिससे उसके अनुभवों में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। इसीलिए शिक्षा को उत्तरोत्तर, प्रगतिशील व्यवहार व्यवस्थापन की प्रक्रिया माना गया है। जैसे-जैसे व्यक्ति अधिकाधिक सीखता जाता है तथा परिपक्व होता जाता है वह ऐसे अनुभव भी प्राप्त करता है जो उसके व्यवहार को निर्देशित करते हैं। इन्हीं निर्देशक तत्वों को मूल्य की संज्ञा दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, मूल्य किसी भी व्यक्ति, समाज के जीवन के निर्देशक तत्व हैं तथा शिक्षा मूल्यों के सतत् संरक्षण, विकास तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने का प्रभावी साधन है।

उन्नत तथा आदर्श मानव जीवन सदा से शिक्षा का लक्ष्य रहा है तथा सम्पूर्ण आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र बिन्दु भी। शिक्षा के उद्देश्यों में इसीलिए सदा व्यक्तित्व के विकास पर बल दिया गया है जिसका मूल्य परक होना अनिवार्य माना गया।

मूल्य मानव जीवन में किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। मूल्य किसी वस्तु या स्थिति के वे गुण हैं जो समालोचना एवं वरीयता प्रकट करते हैं। यह एक आदर्श या इच्छा है जिसे पूरा करने के लिए व्यक्ति जीता है तथा आजीवन प्रयास करता है। जे.काने के अनुसार वे आदर्श, विश्वास या मानक जो किसी समाज या उसके अधिकांश सदस्यों द्वारा धारण किये जाते हैं, मूल्य कहलाते हैं।

मूल्योन्मुख शिक्षा से आशय उस शिक्षा से है जो बालक में सकारात्मक प्रवृत्तियों, सहयोगी

भावनाओं, नैतिक एवं मानवीय गुणों का विकास करे और इस प्रकार उसे समाज का एक उपयोगी सदस्य बनने में योगदान दे। यह कार्य शिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा उसके व्यावहारिक पक्ष पर निर्भर करता है। डॉ. एच.एस. वैस के अनुसार— “वस्तुतः मूल्य न तो कौशल हैं और न ही ज्ञान के वे अंश हैं जिन्हें सीखा जाय। यह तो आस्था और विश्वास हैं, आदर्श और प्रतिबद्धताएं हैं जिनका सम्बन्ध मानसिक और मनोवैज्ञानिक निर्माण से है। यह अर्जित की जा सकने वाली ज्ञान की इकाई नहीं, यह तो अपनाई जाने वाली और आदत व व्यवहार में अभिव्यक्त मानक तत्व हैं। इनका सम्बन्ध अभिवृत्तियों और आदतों से होता है। सोचने, विचारने, निर्णय से इनका सम्बन्ध होता है।

अतः जो शिक्षा बालक में सदप्रवृत्तियों, अच्छी आदतों, तर्क एवं निर्णय क्षमता तथा नैतिकता का विकास करे, उसे मूल्योन्मुख/मूल्यपरक शिक्षा की संज्ञा दी जा सकती है।

**मूल्योन्मुख शिक्षा की आवश्यकता :**

यदि प्रश्न किया जाय कि— क्या आज वास्तव में हमारी शिक्षा मूल्यपरक है? निःसन्देह इस का उत्तर नकारात्मक ही होगा। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति होने के बावजूद हम मानवीय मूल्यों के विकास में ह्रासोन्मुख दिशा की ओर ही अग्रसर हैं। जीवन के भौतिक क्षेत्र में उत्कर्ष पर पहुँच कर भी अधिकांश व्यक्ति असंतुष्टि का ही अनुभव कर रहे हैं। इसका मुख्य कारण है हमारा अपनी संस्कृति तथा मूल्यों से कटते जाना।

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि भारतीय संस्कृति का आधार श्रेष्ठतम मूल्य ही रहे हैं जो न सिर्फ मानव अपितु जीव एवं जगत् के कल्याण,

लौकिक तथा पारलौकिक सम्बन्धों की विशद रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। उल्लेखनीय है कि भारतीय संस्कृति में सैद्धान्तिक की अपेक्षा मूल्यों की व्यावहारिक अवधारणा पर विशेष बल दिया गया है। शिक्षा को भी प्रायः इसी अर्थ में देखा जाता है। श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार— “शिक्षा का सीधा अर्थ सुसंस्कारिता का प्रशिक्षण है।” किन्तु आज की शिक्षा द्वारा सुसंस्कारिता का प्रशिक्षण नहीं हो पा रहा है। किसी भी समाज की संस्कृति का निर्माण उस समाज के प्राचीन तथा नवीन मूल्यों के संश्लेषण द्वारा होता है। समाज के नवीन मूल्य पुराने मूल्यों पर आधारित होते हैं। शिक्षा के माध्यम से पुराने एवं नये मूल्यों में समन्वय स्थापित किया जाता है। आज यही समन्वय भली प्रकार नहीं हो पा रहा है। शिक्षा एकांगी होती जा रही है। व्यावहारिक पक्ष की अपेक्षा हम शिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष पर ही विशेष बल दे रहे हैं। उल्लेखनीय है कि मूल्यों को सीखा नहीं व्यवहार में जिया जाता है किन्तु आज परीक्षा केन्द्रित शिक्षा प्रणाली में शिक्षा का यही व्यावहारिक पक्ष उपेक्षित होता जा रहा है। फलतः मूल्यों का भी दिनों दिन अवमूल्यन होता जा रहा है। यह भविष्य के लिए शुभ संकेत नहीं है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि मूल्यों का अवमूल्यन रोका जाय। व्यक्तियों में अपने विश्वासों एवं आदर्शों के प्रति दृढ़ता लायी जाय जो उनकी आदत एवं व्यवहार में अभिव्यक्त हो। उनके मूल्यों का एक स्वरूप एक ढांचा हो जो उनके निर्णयों को आधार दे।

**मूल्योंमुख शिक्षा को आधार प्रदान करने वाले कारक —**

#### १. परिवार :

परिवार को बालक की प्रथम पाठशाला कहा गया है। साथ ही परिवार समाज की एक छोटी किन्तु महत्वपूर्ण ईकाई है। नवजात शिशु

अपनी जीवन यात्रा परिवार से ही प्रारम्भ करता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, वह माता-पिता, भाई-बहन एवं परिवार के अन्य सदस्यों के सम्पर्क में आता है तथा उनसे अन्तःक्रिया के परिणाम स्वरूप बहुत कुछ सीखता, ग्रहण करता है। परिवार में वह भाषा, वेश-भूषा, दिनचर्या, व्यवहार के तौर-तरीके, आचार-विचार तथा विभिन्न रुचियों एवं आदतों का विकास करता है जो उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण हिस्सा होती हैं। इस प्रकार परिवार बालक के व्यक्तित्व विकास की आधार शिला है। रेमान्ट ने लिखा है— दो बालक एक ही विद्यालय में अध्ययनरत भले ही हों, एक से शिक्षकों से प्रभावित होते हों, एक साथ ही शिक्षा ग्रहण करते हों फिर भी सामान्य ज्ञान, रुचियाँ, भाषा-व्यवहार तथा नैतिकता में अपने अलग-अलग पारिवारिक वातावरण के कारण, जहाँ से आते हैं, पूर्ण तथा भिन्न होते हैं। घर से ही बालक सर्वप्रथम अपने सांस्कृतिक अतीत से सम्बद्ध होता है। नैतिक मूल्यों, आदर्शों का ज्ञान उसे पारिवारिक सदस्यों के बीच रहकर होता है। घर के प्रभाव से ही उसके संवेगों का प्रशिक्षण, रुचियों एवं आदतों का विकास व मूल्यों का निर्माण होता है।

#### २. समाज

प्रत्येक समाज अपनी आवश्यकताओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शों के अनुरूप शिक्षा की व्यवस्था करता है। मनुष्य जन्मतः एक सामाजिक प्राणी है, अतः उस पर उसके समाज का व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ता है। विलियम यूगर का कथन है — “मानव स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है इसलिए उसने बहुत वर्षों के अनुभव से यह सीख लिया है कि उसके व्यक्तित्व एवं सामूहिक कार्यों का सम्यक विकास सामाजिक जीवन द्वारा ही सम्भव है।” प्रत्येक व्यक्ति का जीवन समाज से प्रभावित होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास तथा



मानसिक संतुलन सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से ही होता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के विकसित होने की गति एवं मार्ग उसका स्वयं का होता है फिर भी उस पर समाज के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। मूल्यों के विकास एवं उनके हस्तान्तरण की प्रक्रिया भी समाज में समाज के विभिन्न घटकों द्वारा ही सम्पन्न होती है। आर.के.मुकर्जी ने मूल्यों को सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य उन इच्छाओं तथा लक्ष्यों के रूप में परिभाषित किया है जिन्हें अनुबंधन, अधिगम या समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा अभ्यन्तरीकृत किया जाता है जो आत्मनिष्ठ प्राथमिकताओं, मानकों तथा आकांक्षाओं का रूपग्रहण कर लेती है।

### 3. विद्यालय :

बालक के व्यक्तित्व विकास में परिवार के बाद दूसरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक है, विद्यालय। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समाज के रीति-रिवाज, परम्पराओं, आदर्शों, संस्कृति एवं मूल्यों का ज्ञान कराकर उसका सामाजीकरण करना तथा उसमें उत्तम भावनाओं, भाई-चारा, प्रेम एवं सहानुभूति की भावना का विकास करते हुए स्वस्थ सामाजिक वातावरण के निर्माण की जिम्मेदारी विद्यालयों पर है। कोठारी शिक्षा आयोग ने इस सन्दर्भ में मत व्यक्त किया है कि – “भारत के भाग्य का निर्माण उसकी कक्षाओं में हो रहा है। विद्यालयों एवं महाविद्यालयों से निकलने वाले विद्यार्थियों की योग्यता और संख्या पर ही राष्ट्रीय निर्माण की उस महत्त्वपूर्ण कार्य की सफलता निर्भर करेगी जिनसे हमारे रहन-सहन का स्तर उच्च हो सकेगा।”

स्पष्ट है कि समाज या राष्ट्र विद्यालय के हाथों में अपनी सर्वाधिक बहुमूल्य सम्पत्ति बालक को इस अपेक्षा के साथ सौंपता है कि वह बालकों को उचित और वांछित शिक्षा देकर उनमें ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित करे तथा उन्हें केवल पुस्तकीय

ज्ञान ही न दे बल्कि उनके व्यक्तित्व का इस प्रकार विकास करे ताकि वह राष्ट्र या समाज की उन्नति में अपना सक्रिय योगदान दे सके। यहाँ स्पष्टतः इशारा बालक के नैतिक, चारित्रिक मूल्यों के विकास से ही है जिनके विकास की अहम् जिम्मेदारी विद्यालयों पर है।

### 4. राज्य :

समाज के कार्यों के सुव्यवस्थित संचालन में राज्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। शिक्षा राज्य का आवश्यक कार्य है। समुचित शिक्षा का प्रबन्ध करना राज्य का दायित्व है। राज्य का अस्तित्व सुयोग्य नागरिकों पर निर्भर करता है और सुयोग्य नागरिकों का निर्माण शिक्षा द्वारा ही होता है। भारत में राज्य और शिक्षा का घनिष्ठतम सम्बन्ध रहा है। प्राचीन भारत में शिक्षा सर्वोपरि थी, शिक्षा का प्रबन्ध राज्य करता था। कहीं स्वतन्त्र गुरुकुल भी थे। राज्य द्वारा इन शिक्षा संस्थाओं, गुरुकुलों को हर सम्भव सहायता एवं संरक्षण आवश्यकतानुसार प्रदान किया जाता था किन्तु शिक्षा संस्थाओं पर राज्य का नियन्त्रण नहीं था। मुगलकाल तक भी कमोवेश यह स्थिति थी। अंग्रेजी शासनकाल में इसमें बदलाव आया और आज हम राज्य की अनुपस्थिति में शिक्षा प्रणाली की कल्पना भी नहीं कर सकते। इस प्रकार राज्य शिक्षा का एक शक्तिशाली अभिकरण है जो शिक्षा-प्रणाली, शैक्षिक-व्यवस्था को दिशा देता है, संचालित भी करता है। स्पष्ट है कि राज्य जो मूल्य नियत करेगा उनके विकास का प्रयास भी होगा। जैसे आज भारत में प्रजातान्त्रिक शासन है तो बालक की प्रजातान्त्रिक मूल्यों में आस्था और उसमें प्रजातान्त्रिक गुणों का विकास शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य कार्य है जो इस बात का द्योतक है कि राज्य मूल्यों को आधार प्रदान करता है।

#### ५. संस्कृति :

संस्कृति न सिर्फ मूल्यों को आधार प्रदान करती है वरन् उपर्युक्त चारों घटकों (परिवार, समाज, विद्यालय, राज्य) को भी प्रभावित करती है। संस्कृति और मूल्य एक दूसरे के पूरक हैं। संस्कृति द्वारा विभिन्न मूल्यों को ध्यान में रखकर समाज व्यक्ति का संस्कार करता है, जिसे हम संस्कृतिकरण कह सकते हैं। व्यक्ति अपने संस्कार के परिणाम स्वरूप अपने आचरण, व्यवहार में उन मूल्यों को जीता है और इस प्रकार वह मूल्यों का संरक्षण भी करता है।

मूल्य संस्कृति को जन्म देते हैं तथा संस्कृति मूल्यों का उत्पादन करती है। मूल्य सृजन की क्षमता मनुष्य द्वारा अनुभव के नये क्षेत्र देख सकने की शक्ति पर निर्भर है। इस प्रकार संस्कृति मानवता द्वारा क्रमशः प्राप्त की गई आन्तरिक अनिवार्यता का आवश्यक रूप है। यह वह संभावना है जो यथार्थता की तलाश में है। उल्लेखनीय है कि यह तलाश शिक्षा/मूल्य परक शिक्षा द्वारा ही पूरी हो सकती है। संक्षेप में संस्कृति शिक्षा को दिशा देती है और शिक्षा संस्कृति को सुसंस्कृत व्यक्तित्व प्रदान करती है। समाज द्वारा स्वीकृत मापदण्डों, मूल्यों से शिक्षा अपनी सामग्री प्राप्त करती है। वास्तव में शिक्षा का सार समाज के आदर्श और मूल्य ही होते हैं।

#### मूल्योन्मुख शिक्षा का क्रियान्वयन :

ज्ञान के विस्फोट के इस युग में जहाँ ज्ञान को ही शिक्षा का पर्याय माना जा रहा है, कुछ विषयों की परीक्षा में प्राप्तांक ही बालक की योग्यता/अयोग्यता का आधार बन गया हो, उचित-अनुचित विवेक रहित, नैतिक दृष्टि से दिशाहीन तथा पश्चिम के अन्धानुकरण के इस वातावरण में छात्रों में सही निर्णय लेने की क्षमता का विकास करना मेरी दृष्टि में आज की पहली आवश्यकता है और इसके लिए आवश्यक है पूरी शिक्षा प्रक्रिया का मूल्योन्मुखी होना। कालरिज के

अनुसार— मनुष्य को शिक्षा से बेहतर नहीं वरन् शिक्षा की ऐसी प्रक्रिया के दौरान बेहतर बनाया जा सकता है। व्यक्ति के चरित्र और उसकी जीवन शैली पर गहरा प्रभाव डालने के लिए प्रारम्भ से ही शिक्षा को मूल्योन्मुख बनाया जाना उपयुक्त होगा।

शैशव तथा बाल्यकाल बौद्धिक जिज्ञासा की बहुलता का काल है, साथ ही सीखने का भी सर्वोत्तम काल है। अतः आवश्यक है कि शिक्षा में मूल्यों का समावेश इस प्रकार किया जाय कि छात्रों की अभिवृत्ति, आदत और व्यवहार में यह जुड़ जाय। इसके लिए शिक्षा के औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों ही स्तरों पर कुछ व्यावहारिक प्रयासों पर अमल करने की जरूरत है—

❖ राजनीतिक दल, शिक्षा के नीति निर्धारक पाठ्यक्रम तथा पाठ्यवस्तु के संयोजन में अपनी मनमानी न थोपे।

❖ पाठ्यक्रम में विशेषतः प्राथमिक स्तर पर उन विषयों/पाठों का समावेश हो जो बालक के दिन-प्रतिदिन के अनुभवों तथा उसके परिवेश से जुड़ा हो। इससे उसे सम्बद्ध विषय/पाठ पर अवधान केन्द्रित करने, कल्पना करने, सामान्यीकरण करने तथा निर्णय लेने की क्षमता का विकास होगा।

❖ शिक्षा का माध्यम तो मातृ-भाषा हो साथ ही बच्चे को अंग्रेजी की गुलामी वाली प्रवृत्ति से छुटकारा दिलाने का प्रयास आवश्यक है। मैं एक बात स्पष्ट कर दूँ कि एक भाषा के रूप में अंग्रेजी के अध्ययन-अध्यापन का मैं विरोध कदापि नहीं कर सकता किन्तु प्राथमिक स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में इसे बच्चे पर थोप देना मेरी दृष्टि में घोर नाइंसाफी है और उससे भी घातक है— “बिना अंग्रेजी के काम नहीं चलने वाला” इस धारणा को बालक में भर देना। यह अपनी मातृ भाषा, राष्ट्र भाषा एवं राष्ट्र के सम्मान के अनुरूप नहीं है।

❖ पाठ्यक्रम में प्रेरक प्रसंगों, कथाओं, कहानियों का



समावेश कर उन पर बालक को अपना मंतव्य प्रकट करने को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इनके माध्यम से छात्रों में मैत्री, सहयोग, सहकारिता, सच्चाई, त्याग आदि गुणों के प्रति स्थायी भावों का विकास किया जा सकता है।

❖ प्रकृति तथा मनुष्य, व्यक्ति तथा समाज के अन्तः सम्बन्धों का स्पष्टीकरण।

❖ वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा तकनीकी कुशलता के विकास के साथ-साथ वैज्ञानिक/तकनीकी शिक्षा को जीवन के मानवीय पक्ष से जोड़ने का प्रयास।

❖ बालक को समसामयिक समस्याओं से अवगत कराकर उनका सामना एवं समाधान करने हेतु उन्हें तैयार करना होगा। इसके लिए विभिन्न सामाजिक, समसामयिक समस्याओं पर वाद-विवाद, परिचर्चाओं का आयोजन एवं छात्र सहभागिता के प्रोत्साहन पर बल दिया जाय।

❖ साहित्य एवं धर्म का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन। साथ ही धर्म ग्रन्थों और उत्कृष्ट साहित्य के अंशों का वाचन, प्रवचन, प्रार्थना, आदर्श वचनों का लेखन, आज का विचार (*Thought for the day*) आदि कुछ ऐसे सामान्य कार्यक्रम हैं जिनके माध्यम से छात्रों में आदर्श विचारों, स्वस्थ मूल्यों का विकास किया जा सकता है।

❖ ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक महत्त्व के स्थलों, राष्ट्रीय विकास की योजनाओं से सम्बद्ध संस्थाओं, प्रतिष्ठानों एवं अन्य विशिष्ट स्थलों का भ्रमण। इससे बालक को प्रत्यक्ष ज्ञान तो मिलेगा ही, उल्लेखनीय प्रेरणा भी मिलेगी।

❖ विभिन्न पाठ्य सहगामी क्रियाओं का आयोजन तथा उसमें छात्र सहभागिता को भरपूर प्रोत्साहन। मेरा स्वयं का मत एवं अनुभव है कि सहयोग, अनुशासन आत्मविश्वास, इच्छाशक्ति की दृढ़ता जैसे गुण कक्षा की अपेक्षा खेल के मैदान में अथवा अन्य सहगामी क्रियाओं के माध्यम से बेहतर एवं प्रभावी ढंग से सीखे जाते हैं।

(पृष्ठ ३८ का शेष भाग)

होती जा रही है। अतः विज्ञान को धर्म एवं समाज के अनुकूल, धर्म को सत्य के अनुकूल एवं समाज को व्यक्ति के तथा व्यक्ति को उक्त सबके अनुकूल बनाने पर ही विज्ञान, धर्म एवं समाज की सार्थकता है।

इस प्रकार सभ्यता के संकट के द्वार पर गाँधी जी की समग्रदृष्टि, सत्य ईश्वर है का बोध, स्वदेशी, स्वावलम्बन, अहिंसा, अधिकार प्राप्ति के लिये कर्तव्य, स्त्री-पुरुष समानता, प्रकृति से अनुकूलन, श्रम की प्रतिष्ठा आदि त्राण पाने के मुख्य उपाय हैं। अन्ततः इसी में मानव जाति का कल्याण निहित है। गाँधी जी की प्रासंगिकता इस तर्क से भी सर्वसिद्ध है कि हम सत्य की जगह असत्य, प्रेम की जगह घृणा, मानवता की जगह पशुता एवं परमार्थ की जगह स्वार्थ को मूल्य बनाकर एक पल भी जी नहीं सकते हैं। ●

यह शरीर परमात्मा का मन्दिर है।  
इसमें ईश्वर का वास है। उसको सदैव  
अपने भीतर अनुभव करो और इस मन्दिर  
को कभी अपवित्र न होने दो। इस मन्दिर  
को अपवित्र बना देने वाली कुछ बातें हैं,  
जिनसे सदा बचो। भूलकर भी, स्वप्न में  
असत्य मुँह से न निकले, इसकी कोशिश  
बराबर करो। यदि कहीं भूल से झूठ निकल  
जाय तो उस असत्य के लिए प्रार्थना  
करो, क्षमा माँगो, सच्चे और पवित्र हृदय  
से उसके चरणों में गिरो और पुनः असत्य  
न बोलने का व्रत लो। उसे अपना प्राण  
देकर भी पालो।

महामना मालवीय जी

# भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन और शिक्षा का भारतीयकरण

डॉ० सुनील कुमार सिंह

**परिचय** — भारत में सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम ने उत्तर से शुरू होकर धीरे-धीरे पूरे भारत को अपने प्रभाव में ले लिया। आज २००७ में हमने उस संग्राम के १५० वर्ष पूरे कर लिये हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वतंत्रता संग्राम द्वारा जिस उत्साह एवं प्रेरणा का संचार हुआ था, वह मात्र १९४७ तक ही कायम रहा। हमारे पूर्वजों ने जिन उद्देश्यों को लेकर यह आंदोलन किया, उनकी आंशिक पूर्ति ही १९४७ तक हो पायी। उस दौर की मूल प्रेरक शक्ति 'भारतीयता' थी। उसके मूलाधार अर्थात् 'स्वतंत्रता' को हमने प्राप्त तो किया, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि उसको पाकर हम इतने आह्लादित हुए कि एक नादान बालक की भाँति उसे एक खिलौने की तरह लेकर हम विगत पचास वर्षों से कुम्भकर्णीय सुषुप्तावस्था में पड़े हुए हैं। स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीयता के साथ खिलवाड़ हो रहा है। प्रस्तुत पत्र में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा करते हुए मूलतः शिक्षा के भारतीयकरण से संबंधित तथ्यों की विवेचना की गई है।

## भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन

इसे मुख्यतः चार भागों में बाँटकर देखा जा सकता है :

१. १८५७ और इसके पूर्व,
२. १८५८ से १९०५,
३. १९०६ से १९१८,
४. १९१९ से १९४७।

उपरोक्त के संदर्भ में स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक का उस काल विशेष में समाज पर विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

प्रत्येक पूर्ववर्ती काल ने आगामी काल की पृष्ठभूमि तैयार की एवं क्रमशः राष्ट्रीयता तथा भारतीयता की भावना प्रबल होती गयी। परन्तु साथ ही अंग्रेजीयत की समानान्तर फौज भी तैयार होती गई। इस सन्दर्भ में विभिन्न तथ्यों का विश्लेषण निम्नवत है—  
**भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन और भारतीयता १८५७ और इसके पूर्व**

१९वीं शताब्दी का प्रारंभ अत्यंत ही रोचक रहा। इसमें मूलतः दो दिशाओं में घटनाएँ नज़र आती हैं। प्रथम—भारतीय सुधारवादी आंदोलन ने राजा राममोहन राय, डेरोजियो, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ज्योतिबाफुले, दादा भाई नैरोजी आदि महापुरुषों के नेतृत्व में बंगाल से लेकर सौराष्ट्र तक गति पकड़ी। इसके द्वारा भारतीय समाज में प्रचलित कुप्रथाओं को बंद करने का प्रयास किया गया, साथ ही विज्ञान आधारित पश्चिमी ज्ञान के अध्ययन को भी स्वीकार किया गया। द्वितीय— टी०बी० मैकाले जैसे कट्टर अंग्रेजों ने भारतीय ज्ञान का तिरस्कार किया एवं पश्चिमी ज्ञान को इस उद्देश्य से संरक्षण देना प्रारम्भ किया कि भारतीयों के एक ऐसे वर्ग का विकास किया जाय जो "रक्त और रंग में भारतीय हों परन्तु स्वाद, दृष्टिकोण, नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज हों" (शार्प १९२०, पृ० ११६)। अतः उन्होंने अत्यन्त ही योजनाबद्ध विधि से स्वदेशी ज्ञान एवं भाषा को नष्ट करने का प्रयास किया एवं पश्चिमी ज्ञान को स्थापित करने का प्रयास किया। १८३५ से प्रारम्भ होकर १८५४ के घोषणा पत्र द्वारा इसे पूरी तरह स्थापित कर दिया गया। इस तरह "अधोमुखी निरस्यंदन" सिद्धान्त के द्वारा कुछ भारतीयों को अंग्रेजीयता से सरोबार करके उनको अन्य भारतीयों



के लिए अनुकरणीय बनाने का कार्य व्यवस्थित विधि से किया जाने लगा। इस तरह ब्रिटेन को भारत में शैक्षिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक साम्राज्यवाद का सपना पूर्ण होता प्रतीत होने लगा।

१८५७ में ही कलकत्ता, बम्बई एवं मद्रास विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। इनका मूलाधार लन्दन विश्वविद्यालय था एवं वह आधार आज तक भारतीय शिक्षा को दिशाहीन बना रहा है। १८५७ से पूर्व के क्रियाकलापों के फलस्वरूप भारतीय ज्ञान, साहित्य, धर्म, आस्था एवं सामाजिक ढाँचा सभी संकटग्रस्त होते जा रहे थे। क्रमशः संकट भयावह ही होता जा रहा था। १८५७ में क्रमवार हुए व्यक्तिगत एवं सामूहिक सैनिक व असैनिक संघर्ष इसके स्पष्ट गवाह हैं। अब शहर से गाँव तक सम्पूर्ण भारत में संघर्ष का दौर फैल चुका था। राजा, नवाब, एवं आम आदमी तक इसका स्पन्दन पहुँच चुका था। इसी कारण हम इसे 'प्रथम स्वाधीनता संग्राम' के नाम से जानते हैं।

**१८५८ से १९०५**

इस दौर में मुख्य रूप से यह देखने में आता है कि १८५८ में ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्थान पर ब्रिटिश संसद ने प्रत्यक्ष रूप से भारतीय सरकार की देखरेख का दायित्व स्वीकार कर लिया। इस दौर में क्रमशः पढ़ेलिखे भारतीय अंग्रेजों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रही। श्रीमती एनी बेसेन्ट के शब्दों में :

“.....तथाकथित भारतीय शिक्षित वर्ग के समूह हक्सले, मिल और स्पेन्सर के अनुगामी थे और वे पूर्णरूपेण स्वयं का साहित्य भूल चुके थे, भूत को वे तिरस्कार करते थे और भविष्य के संदर्भ में आशाहीन थे; वे अंग्रेजी तौर-तरीके, अंग्रेजी आचार-व्यवहार, की नकल कर रहे थे एवं अपने घरों को अंग्रेजी शैली के लकड़ी के साजोसामान से सजा रहे थे जो की भारतीय शिल्प एवं कला के लिए घातक था।

वह पूर्ण रूप से राष्ट्र मर्यादा का त्याग कर चुके थे। दैनिक समाचारपत्रों के अध्ययन द्वारा स्वयं ही इस संदर्भ में निर्णय लिया जा सकता है। यहाँ तक की जब मैं भारत आयी तो मुझे भारतीयों ने भारत को मृत बताया। मेरे इस कथन पर कि भारत मृत नहीं सुषुप्तावस्था में है, वह दुःख पूर्वक मुस्कराए (सोमस्कंदन और दर, १९६६ पृ. ४०)।”

श्रीमती बेसेन्ट के अनुसार ही इस दौर की भारतीय शिक्षा रूपी विशाल नदी मुख्यतः दो धाराओं में बटी हुई थी : (१) मिशनरी-निर्देशित शिक्षा जो की बड़ी संख्या में हिन्दुओं और मुसलमानों को एवं छिटपुट रूप में ईसाईयों एवं पारसियों को आकर्षित कर रही थी, एवं (२) सरकारी संस्थाएँ जिनके पीछे सरकार की प्रतिष्ठा दाँव पर लगी थी। इन दोनों ही प्रकार की संस्थाओं के अंतर्गत आनेवाले स्कूल न तो भारतीय आवश्यकताओं और न ही भारतीय परंपरा से संबंधित थे। इनमें भारतीय इतिहास की जगह अंग्रेजी इतिहास, अंग्रेजी नायकों, योद्धाओं, राजनयिकों, व्यापारियों को पढ़ाया एवं अनुकरण हेतु प्रस्तुत किया जाता था। भारतीय दर्शन के स्थान पर पश्चिमी दर्शन को पढ़ाया जाता था। स्थानीय एवं संस्कृत साहित्य का स्थान अंग्रेजी साहित्य ने ले लिया। इस प्रकार मिशनरी एवं सरकारी संस्थाओं का पूर्ण परिवेश सूक्ष्म रूप से राष्ट्रीयता विरोधी था एवं इनके उत्पाद प्रथम श्रेणी के मूल भारतीय न होकर पंचम श्रेणी के अंग्रेजों की प्रतिमूर्ति थे।

**निष्कर्षतः** — इस प्रकार हम पाते हैं कि अपनी इच्छा के अनुकूल अंग्रेजों ने भारत में स्वदेशी पद्धति को निर्मूल करने में सफलता प्राप्त की, साथ ही वह अंग्रेजियत के अनुकूल एक शिक्षा व्यवस्था विकसित करने में सफल होते जा रहे थे। शार्प (१९२०), नायक और नुरुल्लाह (१९७४), सिंह (१९६८) एवं घोष (१९६५) के अनुसार ब्रिटिश शासक निम्न कारणों से एक राष्ट्रवादी शिक्षा तंत्र, विकसित करने में असफल रहे :

(१) विश्वपटल पर भारत के महत्त्व को पहचानने में असफलता :

ब्रिटेन में सामाजिक प्रगति की अवधारणा के फलस्वरूप ही विश्वपटल पर साम्राज्यवाद की नीति प्रारंभ हुई। भारत तक ब्रिटिश विस्तार भी इसी नीति का परिणाम था। अतः अपनी अहंकारी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के कारण वह भारत की वास्तविक प्रकृति को समझने में असफल रहे एवं उन्होंने विश्वपटल पर भारतीय समाज को मात्र रुढ़िग्रस्त एवं अंधविश्वास से ओतप्रोत समाज के रूप में प्रस्तुत किया। इस तरह ईस्ट इण्डिया कम्पनी, ईसाई मिशनरियों एवं ब्रिटिश संसद सभी ने विभिन्न रूपों में भारत का भरपूर शोषण किया है।

(२) पूरब और पश्चिम के समन्वय स्थापन में असफलता :

चूँकि भारत में पश्चिमी शासकों का शोषण का दृष्टिकोण था अतः उसी के अनुरूप भारतीय जनमानस में भी पश्चिमी शासकों के प्रति घृणा एवं प्रतिशोध का भाव विकसित हुआ। इसलिए दो संस्कृतियों के बीच समन्वयन नहीं हो सका।

(३) उचित लक्ष्यों एवं विधियों के विकास में असफलता :

अनुचित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अंग्रेजों ने पूर्णरूप से स्वदेशी संस्कृति को नष्ट करने का प्रयास किया, अंग्रेजियत की श्रेष्ठता के दंभ में अंग्रेजी प्रतिमानों को ही मॉडल के रूप में अपनाया। अतः समाज के उचित विकास में वह असफल रहे। यही कारण है कि समाज में क्रमशः असंतोष बढ़ता गया।

(४) शिक्षा का साम्राज्यवाद के विस्तार हेतु अस्त्र के रूप में :

अंग्रेजों ने शिक्षा को सामाजिक बिखराव (जाति, नस्ल, धर्म, वर्ग आदि आधारित), आर्थिक शोषण, एवं राजनैतिक नियंत्रण सुदृढ़ करने के

अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। अतः शैक्षिक प्रसार की आड़ में उन्होंने अपने घृणित उद्देश्यों की पूर्ति करनी चाही। शनैः शनैः इस यथार्थ ने समाज में असंतोष उत्पन्न किया।

इस प्रकार अंग्रेजों की विभिन्न योजनाओं ने यदि एकतरफ मैकालियन भारतीयों को उत्पन्न करना प्रारंभ किया तो ठीक दूसरी तरफ भारतीय जनमानस ने इस दौर में स्वसंस्कृति व स्वदेश प्रेम से ओतप्रोत चिंतकों को भी जन्म दिया। सम्पूर्ण भारत में नवचेतना का प्रसार होने लगा। एक तरफ प्रखर धार्मिक चिंतकों के रूप में स्वामी दयानन्द सरस्वती व स्वामी विवेकानन्द जैसे तेजस्वी पुरुषों ने भारत व विश्व को झंकृत किया तो दूसरी तरफ साहित्य के माध्यम से बंकिम चन्द्र चटर्जी, रविन्द्रनाथ टैगोर, सुब्रमणियम भारती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे राष्ट्रवादी लेखकों ने नवचेतना का संचार किया। सम्पूर्ण भारत में प्रेस के माध्यम का स्वदेश चेतना एवं अंग्रेजों की वास्तविक गतिविधियों का प्रचार-प्रसार किया जाने लगा। चन्द्रा (१६७१) के अनुसार अमृत बाजार पत्रिका, इन्दु प्रकाश, मराठा, केसरी हिन्दू, स्वदेशमित्र, केरल पत्रिका, हिन्दुस्तानी, आज़ाद, ट्रिबून, अखबार-ए-आम, कोहिनूर आदि इस दौर के कुछ विशेष समाचार पत्र थे। सभी ने संयुक्त प्रयास द्वारा भारत को पुनः खोजने एवं नवजीवन संचार का प्रयास किया।

उपर्युक्त के अतिरिक्त इस काल के संदर्भ में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि कुछ प्रबुद्ध पश्चिमी लोगों ने भारत की प्राचीन विरासत एवं परंपरा के यथार्थ को पहचानते हुए भारतीयों को अपनी विरासत एवं क्षमता को पहचानने की प्रेरणा दी। इनमें श्रीमती ऐनी बेसेन्ट एवं ए.ओ. ह्यूम प्रमुख हैं। उन्होंने भारत में एक जनआंदोलन प्रारंभ करने में अहम् योगदान दिया। दूसरी तरफ इस काल में ही गोपाल कृष्ण गोखले, श्री अरविन्द, रानाडे, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी,



बाल गंगाधर तिलक, मदन मोहन मालवीय, बिपिन चन्द्र पाल, लाला लाजपत राय, फिरोजशाह मेहता जैसे लोग अंग्रेजों की फूट डालने व राज्य करने की नीति के विरोध में स्वदेशी आंदोलन की नींव डालने में सफल हो चुके थे। मुख्य रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में भारतीय जनमानस में शैक्षिक विचारधारा के प्रति चेतना जागृत हुई। जननेताओं ने इस दौर में शिक्षा संबंधी दो मूल बिन्दु उठाये –

(१) धार्मिक शिक्षा का अभाव, (२) जन शिक्षा की धीमी प्रगति। अतः इस दौर में भारतीयों द्वारा जो निजी संस्थाएँ विकसित हुई, उनमें “राष्ट्रीय दृष्टिकोण समाहित था। इसलिए इन सभी संस्थाओं में निम्न बिन्दुओं में समानताएँ थी –

१) यह संस्थाएँ भारतीय व्यवस्था द्वारा संचालित थीं।

२) इन संस्थाओं के संस्थापकों एवं अध्यापकों में त्याग की भावना प्रबलतम थी।

३) इन संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा का भी प्रावधान था।

४) भारतीय लोगों की विशिष्ट सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इन संस्थाओं में कुछ विशेष कोर्सों के प्रावधान किये गये थे।

५) प्राच्य भाषाओं का आत्मसम्मान उत्पन्न करने एवं पुराने रीति-रिवाजों के प्रति लगाव उत्पन्न करने हेतु अध्ययन में प्रावधान किये गये थे। इन संस्थाओं में प्राच्य सभ्यता को पाश्चात्य सभ्यता के समान ही अच्छा प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा “राष्ट्र गौरव” के विकास का प्रयास किया गया।

६) इन संस्थाओं में आधुनिक भारतीय भाषाओं पर ज्यादा ध्यानाकर्षण किया गया।

७) इन संस्थाओं में शुल्क न्यूनतम था।

परन्तु इन संस्थाओं से संबंधित एक यथार्थ यह भी है

कि, यह जिस सीमा तक सरकारी आर्थिक सहयोग एवं विभागीय निरीक्षण पर निर्भर थीं, उन सीमाओं के अंतर्गत इन्होंने सरकारी आदेश का भी पालन किया। इस संदर्भ में देखा जाए तो इनका स्वरूप “अर्ध-राष्ट्रीय संस्थाओं” के समान था। इन्होंने मात्र कुछ बिन्दुओं पर आधारित कमियों को सुधारने का प्रयास किया। वे तत्कालीन प्रचलित शिक्षा व्यवस्था का पूर्ण रूपेण विरोध नहीं कर सकीं।

इस दौर में विशेष रूप से लार्ड कर्जन की नीतियों ने उग्र राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीय शिक्षा की अवधारणा को विशेष रूप में प्रभावी होने में सहयोग किया। १९०५ की बंगाल विभाजन की नीति के क्रियान्वयन के पश्चात विशेष रूप से बंगाल से शुरू होकर सम्पूर्ण भारत में “स्वदेशी आंदोलन” फैल गया। यहीं से स्वदेशी शिक्षा की माँग ने अपनी जड़ें जमा लीं। इस प्रकार सरकारी नीतियाँ एवं शिक्षा के भारतीय दृष्टिकोण में लगातार टकराव होता रहा एवं क्रमशः भारतीय दृष्टिकोण प्रबल होता गया। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी का सवेरा “स्वदेशी” से प्रारम्भ होकर “स्वराज” की ओर चल पड़ा।

**१९०६ से १९१८**

१९०६ के पूर्व के इतिहास पर दृष्टिपाट करने से ज्ञात होता है कि ब्रह्म समाज (१८२८), प्रार्थना समाज (१८६७), आर्यसमाज (१८७५), थियोसोफिकल सोसायटी (१८७५), भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (१८८५), बेलुर मठ (१८८७), रामकृष्ण मिशन (१८९६) आदि संस्थाओं एवं संगठनों के माध्यम से भारत में पुनर्निर्माण का कार्य निरन्तर चलता आ रहा था। १९०५ में स्वदेशी आंदोलन ने इसे एक व्यापक आधार दिया। राष्ट्रहित की भावना व्यक्तिगत एवं सामाजिक चिंतन का भाग बन गयी। स्पष्टतः १९०६ में श्रीमती एनी बेसेन्ट ने “राष्ट्रीय शिक्षा” की बात की। मूलतः यहीं से राष्ट्रीय शिक्षा की संकल्पना ने एक ठोस आधार प्राप्त किया। नायक और

नुरुल्लाह (१९७४) के अनुसार इसके मुख्य बिन्दु इस प्रकार थे -

क) सरकारी नीतियों को अयोग्य एवं विपरीत बताया गया।

ख) राष्ट्रीय नीतियों के सन्दर्भ में आपसी विवाद अवश्य थे परन्तु राष्ट्रीय नीति की संकल्पना के संदर्भ में कुछ समान बिन्दुओं पर एक जुटता था। वह बिन्दु निम्न थे -

#### १) भारतीय नियंत्रण :

राष्ट्रवादी विचारधारा के अनुसार भारतीय शिक्षा नीतियों को ब्रिटिश नियंत्रण से पूर्ण रूपेण मुक्त करके भारतीय नियंत्रण के अंतर्गत लाना था। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने "राष्ट्रीय शिक्षा को परिभाषित करते हुए कहा कि, यह भारतीयों द्वारा नियंत्रित, विकसित एवं पोषित की जानी चाहिए। यह समर्पण, विवेक और नैतिकता के भारतीय आदर्शों पर टिकी होनी चाहिए। यह धार्मिकता के भारतीय संदर्भ द्वारा पोषित होनी चाहिए न कि विभिन्न सम्प्रदायों पर। इसके अनुसार मनुष्य ईश्वर तक विभिन्न मार्गों से पहुँच सकता है एवं सभी पैगम्बर ईश्वर की ही देन हैं। (नुरुल्लाह व नायक, पृ० ३००)।

#### २) मातृभूमि एवं उसकी सुनहरी परंपराओं से प्रेम का शिक्षण :

श्रीमती एनी बेसेन्ट के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा गर्व एवं गौरव से परिपूर्ण राष्ट्रभक्ति के परिवेश में विकसित होनी चाहिए। भारतीय, साहित्य, भारतीय इतिहास, भारतीय विज्ञान, कला राजनीति, व्यापार आदि के क्षेत्र में उपलब्धियों के अध्ययन द्वारा इस परिवेश में मिठास एवं ताजगी सम्मिलित की जानी चाहिए।

#### ३) दासवत नकल नहीं :

राष्ट्रीय शिक्षा का तात्पर्य ऐसी शिक्षा है जिसमें इंग्लैंड की नकल न हो, वह अंग्रेजीयत के आदर्शों के अनुरूप न हो और न ही १८५४ के

विज्ञान एवं साहित्य अध्ययन की संस्तुति के अनुरूप हो। उसमें राष्ट्रीय मानसिकता, मौलिकता, आत्मसम्मान और स्वतंत्रता की झलक होनी चाहिए। नुरुल्लाह एवं नायक (१९७४) के अनुसार श्रीमती एनी बेसेन्ट के शब्दों में राष्ट्रीय शिक्षा को प्रत्येक बिन्दु में राष्ट्रीय मानसिकता की अभिव्यक्ति करने में सक्षम होना चाहिए एवं इससे एक राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करना चाहिए भारत में विभिन्न रीति रिवाजों एवं परंपराओं की विविधता को उन्होंने राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में ईश्वर प्रदत्त एक विशिष्ट सुंदर कृति बताया। उनके अनुसार संतुलित भिन्नता न की एकरूपता पूर्णता की निशानी है। इसी संदर्भ में भारत को उन्होंने पूर्णता से परिपूर्ण ईश्वरीय सुंदरता की प्रतिमूर्ति माना।

४) अंग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त हो एवं अंग्रेजी की जगह हिन्दुस्तानी का विकास हो।

५) व्यावसायिक शिक्षा का विकास हो जिससे जीविकोपार्जन सरल बन सके एवं आत्मनिर्भरता विकसित हो।

इन विचारों पर आधारित राष्ट्रीयता की भावना का प्रबलतम विकास इस दौर में हुआ। "विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार" एवं स्वदेशी भावना की स्वीकारोक्ति पूरे राष्ट्र में फैल गयी। १५ अगस्त १९०६ को राष्ट्रीय शिक्षा परिषद की स्थापना की गई। कलकत्ता में एक राष्ट्रीय कालेज की भी स्थापना की गई एवं श्री अरविन्द घोष प्राचार्य बने। इस समय अनेकों राष्ट्रगीतों की रचना भी हुई। स्वदेशी पत्रकारिता भी विकसित हुई।

इस प्रकार राष्ट्रवादी विचारों से प्रभावित "राष्ट्रवादी शिक्षा" की संकल्पना मात्र सैद्धान्तिक तौर पर ही विकसित नहीं हुई, परन्तु व्यावहारिक धरातल पर भी राष्ट्रीय विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। १९०५ में ही सरकारी विद्यालयों को विद्यार्थियों ने परित्याग करना



शुरू कर दिया था। बंगाल में सर गुरुदास बनर्जी ने राष्ट्रीय शिक्षा के विकास हेतु एक समिति का निर्माण किया। बंगाल में ही राष्ट्रीय हाई स्कूल प्रारंभ किये गये। टेलीगाँव (पूना) में समर्थ विद्यालय की स्थापना की गई। १९०६ में बड़ौदा में निःशुल्क प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था की गई, इसी समय गोखले ने सरकार से निःशुल्क शिक्षा की माँग की। इससे पूर्व १९०२ में सिकन्दराबाद में, १९११ में वृन्दावन एवं १९२० में गुँजरावाला (पंजाब) गुरुकुल की स्थापना की गई। १८९६ में प्रोफेसर डी०के० कार्वे द्वारा एस०एन०डी०टी० महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। १९०१ में शांतिनिकेतन की स्थापना की गई जो कि १९२१ में विश्वभारती के नाम से मशहूर हुआ। १९१६ में मैसूर एवं १९१७ में पटना विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। राष्ट्रवादी प्रयासों के अंतर्गत ही १९१६ में महामना मालवीय जी द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। १९१८ में निजाम द्वारा हैदराबाद में ओस्मानिया विश्वविद्यालय की स्थापना की गई।

#### १९१६ से १९४७

इस समय तक महात्मा गाँधी राष्ट्रीय पटल पर प्रमुख नेता के रूप में चिन्हित हो चुके थे। उन्होंने विद्यार्थियों को सरकारी संस्थाओं को छोड़ने की अपील की। १९२० के नागपुर कांग्रेस में यह विचार रखा गया। १९२०-२१ असहयोग आंदोलन के संदर्भ में भी इसे महत्त्वपूर्ण कदम स्वीकार किया गया। इसी क्रम में राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के रूप में कुछ राष्ट्रीय संस्थाएँ भी स्थापित की गईं। लगभग ४ माह से कम समय में अलीगढ़ राष्ट्रीय मुस्लिम विश्वविद्यालय, गुजरात विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, बंगाल राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ एवं बड़ी संख्या में सभी स्तरों पर हजारों विद्यार्थियों के नामांकन के साथ राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना

की गई (नुरु व नायक १९७४)।

इस तरह राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत शैक्षिक प्रसार का यह सबसे सुनहरा काल था। इनमें अधिकांश संस्थाएँ पूर्ण रूप से भारतीयों द्वारा ही विकसित, नियंत्रित एवं पोषित थीं। यह सभी स्वाधीनता की प्रयोगशाला के रूप में कार्य कर रही थीं। इनके उत्पादों ने स्वतंत्रता पूर्व एवं पश्चात भी राष्ट्रीयता को पोषित करने में विशेष योगदान दिया।

१९२० में ही सर सैयद अहमद द्वारा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। १९२० में ढाका विश्वविद्यालय और लखनऊ विश्वविद्यालय की भी स्थापना की गई। इस तरह १९१६ के प्रारंभ में जहाँ मात्र ०५ विश्वविद्यालय थे वहीं १९२१-२२ में यह संख्या १२ हो गयी।

इस प्रकार हम पाते हैं कि लगातार शैक्षिक संस्थाओं की संख्या बढ़ती जा रही थी। विशेष बात यह है कि यह संस्थाएँ भारतीयों द्वारा पोषित थीं पर साथ ही सरकार द्वारा भी संस्थाओं को खोला जा रहा था। दूसरी तरफ हम पाते हैं कि जलियाँवाला बाग की घटना के पश्चात १९१६ में पूरे देश में संघटनात्मक रूप से अंग्रेजी सरकार का विरोध प्रारंभ हो गया। खिलाफत आंदोलन के दौरान ही मुस्लिमों एवं हिन्दुओं ने एक जुट होकर विरोध करना प्रारंभ कर दिया। डा० किचलु, स्वामी श्रद्धानन्द, तिलक, गाँधी, मौलाना आजाद, अलीबंधु, हकीम अजमल खान आदि के परस्पर सहयोग से पूरे देश में आंदोलन ने गति पकड़ी। १९२० में स्कूलों, कालेजों एवं कोर्ट के बहिष्कार का निर्णय लिया गया। गाँधी जी ने युद्ध में सेवा के लिए प्राप्त मेडल लौटा दिया। इसी समय राष्ट्रीय पटल पर सी.आर. दास एवं मोतीलाल नेहरू भी उभर चुके थे। १९२१ एवं १९२२ में गाँधी जी के नेतृत्व में एक अप्रत्याशित आंदोलन हुआ। सम्पूर्ण राष्ट्र में हड़ताल, सत्याग्रह, कानून का उलंघन आदि किया गया।

दीनबन्धु सी.आर. दास, मोतीलाल नेहरू एवं राजेन्द्र प्रसाद ने अपना वकालत का कार्य छोड़ दिया। स्वराज पाने तक आन्दोलन को अहिंसा व असहयोग के मंत्रों द्वारा आगे बढ़ाने का निर्णय १९२१ में अहमदाबाद कांग्रेस में लिया गया। अब तक सुभाष चन्द्र बोस एवं जवाहरलाल नेहरू भी राष्ट्रीय क्षितिज भर युवा नेताओं को रूप में आ चुके थे। परन्तु राष्ट्रीय पटल पर १९२२ से १९२७ का दौर आपसी दुराव व विभाजन का दौर रहा। परन्तु साइमन कमीशन के आगमन की सूचना के साथ फिर एकजुटता प्रारंभ हो गयी। इस बीच समाजवाद की भावना का प्रसार नेहरू एवं बोस के नेतृत्व में कांग्रेस के माध्यम से फैला। १९२८ तक बारदौली सत्याग्रह के माध्यम से सरदार बल्लभभाई पटेल भी प्रसिद्धि पा चुके थे। १९२४ में चन्द्रशेखर आजाद, भगत सिंह, रामप्रसाद बिस्मिल्ल, असफाकउल्लाह, राजगुरु, लाला लाजपत राय की गतिविधियाँ विशेष रूप से चर्चा में रहीं। १९२८ में साइमन का जोरदार विरोध हुआ। ३१ दिसम्बर १९२९ में लाहौर कांग्रेस में “पूर्ण स्वराज्य” का नारा दिया गया। कांग्रेस की अध्यक्षता मोतीलाल नेहरू से जवाहरलाल नेहरू ने ली। राष्ट्रीयता में यहाँ से एक नया मोड़ आया। यहीं से तिरंगे को राष्ट्रीय ध्वज के रूप में स्वीकृति मिली। १९३० में (१२ मार्च) गाँधी जी ने डांडी मार्च किया एवं घोषणा की, कि “भारत में ब्रिटिशराज द्वारा नैतिक, भौतिक, सांस्कृतिक क्षरण हुआ है एवं मैं इस शासन को एक अभिशाप मानता हूँ.....एवं इस अभिशाप से मुक्ति पाना अब हमारा धर्म है” (चन्द्र, १९८६, पृ. २८८)। खान अब्दुल गफ्फार खान ने भारत के पश्चिमी छोर में नेतृत्व किया। नागालैण्ड, मणीपुर सभी जगह विरोध फैल गया।

१९३५ में राष्ट्रीय राजनीति को एक नई दिशा मिली। विभिन्न प्रांतों में लोगों को अपनी सरकार बनाने का एक अवसर प्राप्त हुआ। देश में

१९३७ में ११ में ६ प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी, शेष दो बंगाल एवं पंजाब में साझा सरकारें बनीं। इस दौर में १९३० के पश्चात् कांग्रेस ने साम्राज्यवाद का विरोध भारत में ही नहीं अपितु विश्व के अन्य हिस्सों में भी करना प्रारंभ कर दिया। इस दौरान १९४१ में सुभाष चन्द्र बोस रूस और फिर जर्मनी चले गये। १९४३ में जापान से होते हुए सिंगापुर पहुँचे एवं “इण्डियन नेशनल आर्मी” की स्थापना की। उन्होंने राष्ट्रीयता की भावना भरते हुए अपने सैनिकों को “जय हिन्द” का नारा दिया। बाद में बर्मा में ब्रिटिश सेना से उन्हें हार का सामना करना पड़ा। मूलतः द्वितीय विश्वयुद्ध में १९४४-४५ में जापान की पराजय से नेताजी की सेना भी कमजोर पड़ गयी थी। युद्ध के कारण ब्रिटेन की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ, साथ ही भारत में चारों ओर से विद्रोह फैल चुका था। सेना (नेवी), रेलवे पोस्टल सेवायें, स्कूल-कॉलेज आदि में हड़ताल का व्यापक असर था। सम्पूर्ण व्यवस्था अस्त व्यस्त हो चुकी थी। अतः २० फरवरी १९४७ को क्लेमेंट एटली (ब्रिटिश प्रधानमंत्री) ने घोषणा की कि, ब्रिटिश जून १९४८ तक भारत छोड़ देंगे। इस दौरान देश में साम्प्रदायिक उन्माद भी फैल रहा था। ३ जून १९४७ को मार्टनबेटन ने घोषणा की कि भारत और पाकिस्तान को दो राष्ट्रों के रूप में स्वतंत्रता मिलेगी। अतः एक खण्डित राष्ट्र के रूप में हम १५ अगस्त १९४७ से स्वतंत्र हुए।

शैक्षिक संदर्भ में यह काल विशेष महत्त्व का काल इसलिए था कि महात्मा गाँधी ने १९३७ में बेसिक शिक्षा की संकल्पना दी एवं कहा कि शिक्षा का केन्द्र कोई शिल्प होना चाहिए, भाषा मातृभाषा होनी चाहिए, बच्चों द्वारा किया जाने वाला कार्य लाभदायक एवं उत्पादक होना चाहिए और उसे बच्चों में शारीरिक श्रम के प्रति गरिमा का भाव पैदा (शेष भाग पृष्ठ ५४ पर)



# मूल्यों के प्रति समग्र जीवन दृष्टि एवं व्यक्तित्व विकास

सुजाता उपाध्याय

मूल्य एक सशक्त विवेकशक्ति निर्माण के आधार हैं। हमारे व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं— एक भौतिक पक्ष एवं दूसरा आध्यात्मिक पक्ष। भौतिक पक्ष सांसारिक भोग—विलास के पदार्थों एवं धन—ऐश्वर्य से और आध्यात्मिक पक्ष चारित्रिक सदगुणों जैसे— दया, क्षमा, दान आदि सदगुणों के विकास से संबंध रखता है। एक प्रभावशाली व्यक्तित्व का निर्माण दोनों पक्षों—भौतिक एवं आध्यात्मिक के संतुलन से होता है। प्रत्येक व्यक्ति की एक विशिष्टता होती है जिसका स्थान कोई अन्य नहीं ले सकता। हमारा नाम हमें अपने परिवार से प्राप्त होता है पर स्वयं की एक अलग पहचान बनाना प्रत्येक विद्यार्थी का जीवन लक्ष्य होना चाहिए।

एक समग्र जीवन दृष्टि में धर्म एवं आध्यात्म व विज्ञान आदि विभिन्न विचारधाराओं का समावेश होता है। सर्वप्रथम यदि धर्म की दृष्टि से स्थिति का अवलोकन करें तो हम यह पाते हैं कि ईश्वर का निवास स्थान मंदिरों, मस्जिदों या गिरिजाघरों में नहीं वरन् स्वयं हमारे भीतर है। यह हमारे अपने कार्यों पर निर्भर करता है कि हम अपने अन्दर किन गुणों का विकास करते हैं। ईश्वर ने हमें कुण्डलिनी शक्ति प्रदान की है। शरीर में उपस्थित सातों चक्र—आज्ञा चक्र, हृदय चक्र, सहस्रार चक्र, स्वाधिष्ठान, नाभि चक्र, मूलाधार चक्र, विशुद्धि चक्र ईश्वर द्वारा प्रदत्त ऊर्जा का एक विशाल भण्डार हैं। उस ऊर्जा का किस तरह से विकास हो यह स्वयं हमारे अपने ऊपर निर्भर करता है। चक्रों के विकास से हमारे भीतर विभिन्न गुणों एवं रुचियों का विकास होता है, उदाहरण के लिए नाभि—चक्र के विकास से बहुमुखी प्रतिभा का विकास होता है। चक्रों में दोष या विकार

होने से विभिन्न रोगों का जन्म होता है, उदाहरण के लिए मूलाधार चक्र में दोष होने से उदर संबंधी रोगों का जन्म होता है, सहस्रार चक्र में दोष से ब्रेन ट्यूमर, इपिलेप्सी जैसी बीमारियाँ होती हैं। विभिन्न चक्रों का सकारात्मक दिशा में विकास हमारे स्वयं के ऊपर निर्भर करता है। जब प्राण सुषुम्ना नाड़ी में बहने लगते हैं तो व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होता है। धर्म के दृष्टिकोण के अनुसार जो ईश्वर ने कहा है कि तुम्हारे जीवन में प्रत्येक घटना तुम्हारे इच्छानुसार ही घटित नहीं होगी पर सफल मात्र वह व्यक्ति हो सकता है जिसमें क्षमता है 'अनचाही वस्तु को चाहा हुआ बनाने की।' हमें हर मांगी वस्तु नहीं मिलेगी हमें मिलेगी वह जिसकी हमें आवश्यकता है। 'ईश्वर भी दुःख उसे ही देता है जिस पर उसकी कृपादृष्टि होती है जिससे वह भक्त उसके और समीप आ जाए।'

विज्ञान भी ऊर्जा संरक्षण के सिद्धांत (Law of Conservation of energy) की पुष्टि करता है अर्थात् हमारे भीतर ऊर्जा असीमित है, यह हमारे अपने ऊपर निर्भर करता है कि हम उस ऊर्जा का सकारात्मक प्रयोग कर अपने व्यक्तित्व का विकास करें या उस ऊर्जा का नकारात्मक विचारों या कार्यों में क्षय होने दें। ईश्वर द्वारा प्रदत्त विशाल ऊर्जा स्रोत के हम सभी एक भाग हैं तो स्वयं के प्रयत्न से हमें अपने मन के तार इस ऊर्जा स्रोत से जोड़ने होंगे। सच्ची आस्था एवं विश्वास से हम स्वयं परमात्मा को अपने भीतर अनुभव कर सकते हैं। यह ठीक उस प्रकार है जैसे कस्तूरी का मृग स्वयं के ऊर्जा स्रोत से अनभिज्ञ होने पर उसे बाहर ढूँढ़ता है पर वह ऊर्जा तो स्वयं उसके भीतर ही विद्यमान है।

प्रत्येक शरीर नश्वर है पर आत्मा तो अमर है। विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करता है कि पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता केवल इसका स्वरूप बदल जाता है। किसी तत्व की विशिष्टता या गुणवत्ता उन अणुओं पर निर्भर करती है, जिनसे वह बनी है। उसी प्रकार पूरे ब्रह्माण्ड की संरचना में प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक जीव, प्रत्येक वनस्पति की एक विशिष्ट भूमिका है।

एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के निर्माण में विभिन्न परिस्थितियों के प्रति संवेदना और विभिन्न सदगुणों जैसे दया, क्षमा, धार्मिकता का विकास सम्मिलित है। सकारात्मक विचार स्मरण शक्ति का विकास करते हैं। कुछ शोधों से आज यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि 'Emotional Quotient' (E.Q.) is directly proportional to 'Spiritual Quotient' or 'Intelligence Quotient' - हमारी संवेदना हमारे भीतर प्रतिभा विकास एवं बुद्धिमत्ता के विकास में सहायक है।

हमारे जीवन में प्रातः काल उठने व नियमित दिनचर्या का विशेष महत्त्व है। योगाभ्यास एवं प्राणायाम भी एक अच्छा स्वस्थ बनाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हमारे शरीर में Pituitary gland ही मास्टर ग्लैंड कही गई है जिससे विभिन्न hormones का स्राव होता है। उसी स्थान पर आज्ञा चक्र का भी स्थान है। हम जैसा सोचते हैं—वही विचार हमारे शरीर में विभिन्न हार्मोन्स के स्राव के लिए उत्तरदायी हैं। सकारात्मक विचार शरीर में सृजनात्मक क्रियाओं (anabolism) में सहायक हैं जबकि नकारात्मक विचार विघटन क्रियाओं (catabolism) को जन्म देते हैं। एक आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिए हमारे विचार एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विज्ञान के अनुसार हमारी श्वास गति (respiration rate) हमारी आयु के निर्धारण में सहायक है। श्वास गति जितनी कम

होगी, उस व्यक्ति की आयु उतनी ही लम्बी होगी। उदाहरण के लिए प्राणायामों में कपालभांति प्राणायाम Body physiology को सही करता है और अनुलोम-विलोम प्राणायाम Body biochemistry को सही करता है। जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उचित आहार की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आत्मा के विकास के लिए ऊँचे विचारों और ऊँचे आदर्शों की भी आवश्यकता होती है। आत्मा का भाग एक बीज की तरह है और शरीर क्षेत्र के समान है। हम उस बीज को यदि उचित वातावरण एवं उचित संस्कार देंगे तो ही ज्ञान का वृक्ष खड़ा हो सकेगा।

संघर्ष एवं कठिन परिश्रम ही सफलता की कुंजी है। संघर्ष को ईश्वर द्वारा ली गई परीक्षा समझकर हमें परेशानियों का सामना करना चाहिए। व्यस्त रहना भी सुखी रहने की एक कला है। कार्यक्षेत्र में सदैव आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए और विभिन्न रुचियाँ भी विकसित करनी चाहिए जो हमारे व्यक्तित्व की विशिष्टता को बढ़ा सकें।

उद्देश्य एक हो किंतु किस मार्ग का अनुशरण किया गया है, वह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सफलता को प्रभावित करता है। हर परिस्थिति में नवीन विचारों का अन्वेषण करना चाहिए क्योंकि यदि हर व्यक्ति सिर्फ उन्हीं बातों का पूर्णतया अनुशरण करेगा जो पहले कहीं गई हैं तो नूतन अविष्कारों का जन्म कैसे होगा? विपरीत परिस्थितियों में धैर्य न खोना, अपने कार्यों को करने के प्रति उत्साह एवं नवीन स्फूर्ति और जीने का उत्साह जगाने की उत्कंठा आज प्रत्येक युवा की विशिष्टता एवं पहचान होनी चाहिए। विश्व इतिहास में भी जितने महान व्यक्तित्व हुए हैं उनकी जीवनी का अवलोकन करने पर प्रायः हम यह देखते हैं कि आरंभ में उन्होंने बहुत ही कठिन परिस्थितियों का



सामना किया है। वह बाधाओं के आने पर उनसे भागे नहीं वरन् उन्होंने उनका डटकर सामना किया।

जिस प्रकार विज्ञान में हम यह सिद्धांत पाते हैं कि प्रत्येक क्रिया की एक समरूप विपरीत प्रतिक्रिया होती है (Every action has an equal and opposite reaction)। हम जो भी कर्म करते हैं— अच्छे या बुरे हमें उनका प्रतिफल स्वयं ही भोगना पड़ता है। उदाहरण के लिए निन्दा करने के बदले प्रशंसा मिलना संभव नहीं है। अच्छे व्यवहार से ही दूसरों का स्नेह या प्रशंसा प्राप्त की जा सकती है। कहा भी गया है 'आत्मना प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' (जैसा व्यवहार हमें स्वयं के अनुकूल न लगे वैसा व्यवहार हमें दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए)। सत्कर्मों से अच्छे फल और दुष्कर्मों से बुरे फल दण्ड के रूप में भोगने पड़ते हैं। पूर्वजन्मों में किए गए सत्कर्मों या दुष्कर्मों के फल मनुष्य को प्रारब्ध के रूप में भोगने पड़ते हैं। ईश्वर की विधि का विधान हर प्राणी के लिए समान है। आवश्यकता है तो मात्र पूर्ण ज्ञान से अवगत होने की, जो निराशा की हर एक परछाई को आशा के तेज या प्रकाश से मिटा देगा। प्रत्येक व्यक्ति का जीवनकाल सीमित होता है, पर कुछ व्यक्ति ही समय का सदुपयोग कर अपनी विशिष्ट पहचान बनाने में सफल हो पाते हैं। ज्योतिष शास्त्र भी इस बात को प्रमाणित करता है कि किसी व्यक्ति के जन्मांग के अनुसार विभिन्न ग्रह विभिन्न राशियों या विभिन्न दशाओं में शुभ या अशुभ फल देते हैं। अर्थात् यह सदैव संभव नहीं कि उचित प्रयास करने के उपरांत भी सब कुछ हमारे सोचने के अनुसार घटित हो। हमें हर परिस्थिति में हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। मनुष्य की इच्छाएँ असीमित होती हैं और एक जीवनकाल में सभी इच्छाओं की पूर्ति संभव नहीं। संतोष परम सुखम्। सुख और समृद्धि की परिभाषा मात्र आर्थिक प्रगति एवं समृद्धि तक सीमित नहीं होनी चाहिए क्योंकि

सुख का संबंध मानसिक शांति से भी जुड़ा हुआ है। सुख एवं समृद्धि की वास्तविक परिभाषा में सांस्कृतिक एवं चारित्रिक समृद्धि का भी समावेश होता है।

जिस प्रकार एक साफ सतह पर यदि एक बहुत ही सुनहरी एवं सुंदर चमकीली वस्तु गिरती है तो वह वस्तु अपना मूल स्वरूप न खोकर उसी रूप में रहेगी और यदि वह सतह गंदी या मैली होगी तो वह सुंदर वस्तु उस सतह पर गिरकर मैली होकर अपनी मौलिकता खो सकती है। उसी प्रकार ईश्वर की कृपा हर व्यक्ति पर समान रूप से होती है पर यदि हमारा चरित्र स्वच्छ न हो तो हम स्वयं अपनी विशिष्टता या मौलिकता को खो देंगे। भौतिक विज्ञान में भी हम 'Law of reflection of light' के अनुसार एक प्रकाश रेखा यदि एक समतल सतह पर गिरती है तो वह उसी कोण का reflect होता है। ठीक उसी प्रकार एक उज्ज्वल चरित्र के व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी एक विशिष्टता को परिलक्षित करता है। किसी वस्तु का स्वरूप उसको देखने वाले की दृष्टि और सोच पर निर्भर करता है। एक आस्तिक के लिए एक मूर्ति में देवता का वास है किन्तु एक नास्तिक के लिए वही मूर्ति मात्र एक पत्थर है।

भौतिक विज्ञान में 'Law of reflection of light' के अनुसार जब प्रकाश रेखा एक denser medium से एक rarer medium में जाती है तो वह normal से deviate करती है। ठीक उसी प्रकार कोई एक विचार भी विभिन्न व्यक्तियों के लिए अलग-अलग अर्थ रख सकता है और यह उस व्यक्ति की मनोवृत्ति एवं संस्कारों पर निर्भर करता है। वाणी को ईश्वर द्वारा प्रदत्त एक अनमोल भेंट कहा गया है क्योंकि प्रेमयुक्त वाणी से सम्पूर्ण जगत को अपना बनाया जा सकता है।

चारित्रिक सदगुणों एवं संस्कारों के विकास

में माँ-बाप की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। नवीन संस्कारों के सृजन एवं एक सुखी एवं समृद्ध परिवार के निर्माण में नारी का विशेष महत्त्व है। बच्चों को एक जीवन लक्ष्य का सिद्धांत दिया जाना चाहिए। वह एक ऐसा जीवन जिसे जिसमें उन्हें एक विशिष्ट पहचान मिले और लोग सम्मान के साथ उनका नाम लें। समाज में व्यक्तिगत या पारिवारिक स्तर की अनेकों समस्याओं का मूल कारण यह है कि हम उन्हें मात्र एक दृष्टि से सोचते हैं वरन् हमें एक समग्र जीवन दृष्टि का विकास करना चाहिए जो प्रत्येक स्तर पर समस्याओं का समाधान दे सके। पढ़ाई के अतिरिक्त विभिन्न रुचियों जैसे गायन, वादन, लेखन आदि का भी विकास करना चाहिए जो एक बहुमुखी प्रतिभा के विकास में सहायक हों।

भारत सदैव से ही विश्व का आध्यात्मिक गुरु रहा है और हमारे राष्ट्र की एक विशिष्ट पहचान रही है। कोई भी राष्ट्र तभी तक सम्मान का पात्र बना रह सकता है जब तक वह अपनी विशिष्टता या मौलिकता को बनाए रखता है। हम सभी का यह पावन कर्तव्य है कि हम जिस क्षेत्र में भी रहें पूरी ईमानदारी और लगन से अपना कार्य करें। स्वयं में नेतृत्व क्षमता का विकास करने का प्रयास करें और अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाने के लिए दृढ़ संकल्प लें।

“वह सत्य ही है जिसका कि अस्तित्व है, सत्य की कमी ही असत्य कही जाती है और असत्य का तो कोई आस्तित्व ही नहीं।” ●

प्रेम का दर्शन हम पिता-पुत्र, भाई-बहन और मित्र-मित्र के बीच करते हैं। किन्तु इसका उपयोग सभी जीवित प्राणियों के बीच होना चाहिए। —महात्मा गाँधी

(पृष्ठ ५० का शेष भाग)

करना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा स्वावलम्बी बनाने वाली होनी चाहिए। इस संदर्भ में जाकिर हुसैन समिति ने दिसम्बर, १९३७ में विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। सन् १९३८ में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की सेवाग्राम में स्थापना हुई। इसी प्रकार श्री अरविन्द ने पांडिचेरी में १९४३ में आश्रम स्थापित किया जो कि आज भी “आरोविल” के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक ‘विश्व शिक्षा केन्द्र’ के रूप में प्रसिद्ध है। यह ‘श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र’ के रूप में भी जाना जाता है।

**निष्कर्ष :**

आज हम १८५७ से चलकर २००७ तक १५० वर्षों का सफर पूर्ण कर चुके हैं। उपर्युक्त विवेचना द्वारा शिक्षा के भारतीयकरण की विचारधारा पर एक प्रकाश डाला गया है। वर्तमान के संदर्भ में एवं भविष्य की दृष्टि से भारतीयता संबंधित उपर्युक्त विचार प्रासंगिक हैं अथवा नहीं? इससे संबंधित मूल्यों पर विचार करना एवं उसे व्यावहारिक रूप देना आप सभी विद्वानों का दायित्व है। ●

महामना हिन्दू विश्वविद्यालय को पूजा की वेदी और तापस्या का स्थान मानते थे। उन्होंने विश्वविद्यालय को जीवनपर्यन्त एक मंदिर की दृष्टि से देखा। कभी भी इसे अपनी निजी सम्पत्ति नहीं समझा। करोड़ों रुपया मांग कर सरस्वती के देवालय के निर्माण में खर्च किया। पर उसमें से एक पैसा निजी कार्य में खर्च करना वे अनुचित ही नहीं, अधर्म भी समझते थे।

प्रज्ञा (अंक १२)



# मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र (Malaviya Moolya Anusheelan Kendra) की वार्षिक रपट (वर्ष २००६-०७)

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र का मुख्य उद्देश्य है, विश्वविद्यालय शिक्षा में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों को प्रतिस्थापित करना। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु केन्द्र अपने स्थापना वर्ष १९६१ से अब तक निरंतर प्रयासरत है। विगत शैक्षणिक सत्र २००६-०७ में किये गये कार्यों का विवरण निम्नांकित है -

■ **कार्यालय की स्थापना** - मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र को अपने कार्यक्रमों को नियमित रूप से संचालित करने हेतु जनवरी २००६ में विश्वविद्यालय प्रशासन की ओर से, मालवीय भवन संकुल में स्थित, 'श्यामाचरण डे निवास', आवंटित किया गया। यह भवन विश्वविद्यालय के हैरिटेज भवनों में से एक है। जिसका निर्माण प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं विश्वविद्यालय के पूर्व कुलसचिव एवं प्रोफेसर श्यामाचरण डे बाबा के व्यक्तिगत धन से हुआ था। यही भवन उनका निवास स्थान एवं साधना स्थल रहा है। महामना के साथ-साथ डे बाबा भी केन्द्र के प्रेरणा स्रोत हैं।

■ **आर्थिक संसाधन** - मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र अपने स्थापना वर्ष से लेकर सन् २००६ तक औद्योगिक क्षेत्रों की संस्थाओं के अधिकारियों के लिए संचालित प्रशिक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से अर्जित आय एवं सहयोगी सदस्यों के आर्थिक सहयोग के माध्यम से अपने कार्यक्रम संचालित करता रहा है।

केन्द्र के कार्यक्रमों की सफलता के आधार पर इस वर्ष विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने दसवीं

पंचवर्षीय योजना के 'Values in Education' प्रोजेक्ट के अन्तर्गत चार लाख रुपयों का अनुदान दिया। विश्वविद्यालय प्रशासन द्वारा रिकरिंग फण्ड के रूप में कार्यालय की दैनिक आवश्यकताओं हेतु २५ हजार रुपये व विशिष्ट अतिथि व्याख्यानों एवं 'मूल्य-विमर्श' पत्रिका के प्रकाशन हेतु श्री विश्वनाथ मंदिर कोष से ६० हजार रु० की राशि प्रदत्त की गयी।

❖ **जनवरी २००६-मार्च २००७ तक आयोजित कार्यक्रमों की संक्षिप्त रपट**

१. १२ जनवरी २००६ - स्वामी विवेकानन्द जयन्ती 'युवा-दिवस' पर संगोष्ठी का आयोजन  
विषय : "नैतिक उत्थान के लिए स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा"

इस संगोष्ठी के मुख्य अतिथि श्री शुभ नारायण सिंह 'वरिष्ठ अधिकारी टेल्को' एवं एम आर ए पंचगनी से आये हुए ७ देशों के विद्यार्थी एवं प्रशिक्षक थे। इस संगोष्ठी में विश्वविद्यालय परिवार एवं नगर के २०० प्रतिभागियों ने भाग लिया। साथ ही एम आर ए की युवा टीम ने नैतिक उत्थान से सम्बन्धित प्रेरणात्मक गीत एवं अभिनय के माध्यम से प्रतिभागियों को प्रेरित किया।

२. **कला एवं सामाजिक विज्ञान संकाय के शोधार्थियों के लिए कार्यशाला**

अवधि - ३ अप्रैल से ६ अप्रैल, २००६

शीर्षक - "व्यक्तिगत जीवन एवं कार्यक्षेत्र में उत्कृष्टता के लिए जीवन मूल्य एवं व्यावहारिक कौशल"

*(Values and Skills for Excellence in Personal Life and Work Life)*

इस कार्यशाला में तीन संकायों (कला, सामाजिक विज्ञान, एवं संस्कृत विद्या धर्म-विज्ञान संकाय) के ४४ छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। कार्यशाला में कुल १८ सत्र हुए और प्रत्येक सत्र डेढ़ घंटे का था। इस प्रकार कुल २७ घंटे चर्चाएं हुईं। कार्यक्रम की समाप्ति पर लिए गये feed-back से लगा की कार्यशाला अपने उद्देश्य में सफल रही। सभी प्रतिभागियों ने इस नूतन प्रयोग को अत्यंत लाभप्रद कहा। एक विचार जिसका सभी ने पुरजोर समर्थन किया, यह कि ऐसी कार्यशालाएँ सभी विभागों/संकायों में नियमित रूप से आयोजित की जानी चाहिए।

एक सत्र हमने प्रतिभागियों के बीच सह-संवाद (group discussion) के लिए रखा था। इसके लिए विषय चुना गया था, उत्कृष्टशोध कार्य करने के लिए हमारे विश्वविद्यालय में क्या कठिनाइयाँ हैं, और उन्हें कैसे दूर किया जाय'। पहले आधे घंटे में प्रतिभागियों से अपने विचारों को लिख कर देने के लिए कहा गया और फिर प्रायः एक घंटे सामूहिक चर्चा हुई। इन लेखों और चर्चाओं से उभरे मुख्य बिन्दु निम्नांकित हैं -

i) जिस बात को सर्वाधिक प्रतिभागियों (३५ लिखित उत्तरों में से २२) ने अलग-अलग शब्दों में दुहराया वह है शोध-कर्ता एवं शोध निर्देशक के बीच अच्छे संबंधों का अभाव, सार्थक संवाद की कमी, उचित मार्गदर्शन और प्रोत्साहन न मिलना। एक दो ने तो यह भी कहा कि उनके शोध निर्देशक प्रत्यक्ष रूप से हतोत्साहित करते हैं ('कुछ टेक्निकल काम सीखो। इस शोध-बोध से कुछ नहीं मिलने वाला')। कुछ ने कहा कि यदि हम विभाग के किसी दूसरे शिक्षक से कुछ पूँछने जाते हैं तो हमारे शोध निर्देशक नाराज़ हो जाते हैं। और दूसरे शिक्षक के छात्र को अन्य

शिक्षक भी कुछ बताना नहीं चाहते।

ii) १२ प्रतिभागियों की दृष्टि में उत्कृष्ट शोध करने में मुख्य कठिनाई है, पुस्तकालय में शोध संबंधी पुस्तकों का न होना, शोध-पत्रिकाओं की कमी, एवं पुस्तकालय की दुर्व्यवस्था।

iii) इतने ही प्रतिभागियों ने यह भी स्वीकार किया कि मुख्य कारण है शोधार्थियों में ईमानदारी, लगन और गंभीरता की कमी।

iv) ८ प्रतिभागियों की शिकायत है कि उन्हें अपनी इच्छा/रुचि का विषय नहीं मिला। शोध विषय निर्देशक ने अथवा विभागीय समिति ने तय कर दिया।

v) इतने ही लोगों ने पारिवारिक-आर्थिक कारणों को एक प्रमुख कठिनाई के रूप में सामने रखा।

vi) पांच ने भाषा की समस्या को तथा शोधकार्य में मौलिकता, नवीनता के अभाव को उत्कृष्ट कार्य न हो पाने का कारण माना।

vii) चार ने कहा की विभागीय/पारिवारिक/सामाजिक वातावरण उत्कृष्ट शोध कार्य के अनुकूल नहीं है।

viii) कुछ अन्य टिप्पणियाँ इस प्रकार की हैं-

छात्र-वृत्ति न मिलना - ५

शोधार्थी में सृजनात्मकता का अभाव - ३

आजीविका की अनिश्चितता - २

शोधार्थी में आत्मविश्वास की कमी - २

विभाग के अध्यापकों के बीच आपसी संबंध का अच्छा न होना - १

शोधार्थियों के लिए आवास की समस्या- १

शोधार्थियों के बीच आपसी तालमेल का अभाव- १

3. विश्वविद्यालय के शिक्षकों के लिए कार्यशाला

अवधि - ३१ जुलाई से १२ अगस्त, २००६

शीर्षक - "व्यक्तिगत जीवन एवं कार्यक्षेत्र में उत्कृष्टता के लिए जीवन-मूल्य एवं व्यावहारिक



### **कौशल" (Values and Skills for Excellence in Personal and Professional Life)**

इस कार्यशाला में आयुर्वेद सामाजिक विज्ञान, कला एवं शिक्षा संकायों तथा प्रौद्योगिकी संस्थान के कुल २४ प्रतिभागियों ने भाग लिया। भाग लेने वाले सभी प्रतिभागी प्रवक्ता स्तर के थे और अधिकांश को हाल ही में विश्वविद्यालय के अध्यापन दायित्व का कार्य प्राप्त हुआ था। इस कार्यशाला में विश्वविद्यालय के १० वरिष्ठ अध्यापकों ने अपनी प्रस्तुतियां दीं। कार्यशाला में कुल २६ सत्र हुए और प्रत्येक सत्र डेढ़ घण्टे का था। इस प्रकार कुल ३६ घण्टे चर्चाएं हुईं। कार्यशाला की समाप्ति पर लिए गये *Feed Back* से लगा कि कार्यशाला अत्यधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। सभी प्रतिभागियों ने कार्यशाला में हुई चर्चाओं व अभ्यास कार्यों को लाभप्रद बताया। प्रतिभागियों के शब्दों में— **“इस कार्यशाला ने हमारे अध्यापक होने के दायित्व बोध, जीवन के प्रति सकारात्मक चिंतन और आत्मविश्वास में वृद्धि की। इसलिए हम इस केन्द्र से सदैव जुड़े रहना चाहेंगे।”** अधिकतर प्रतिभागियों का मानना था कि इस तरह की कार्यशालायें विश्वविद्यालय के सभी संस्थानों, संकायों के अध्यापकों के लिए आयोजित की जानी चाहिए। प्रतिभागियों के इस सकारात्मक दृष्टिकोण से लगा कि केन्द्र का प्रयास सफल रहा।

दो सत्र, सामूहिक परिचर्चा के लिए रखे गए थे। एक का विषय था, **“शिक्षक — विद्यार्थी सम्बन्ध : कैसे बेहतर बनाए जाएं?”** और दूसरे का विषय था, **“विश्वविद्यालय का शैक्षिक, प्रशासनिक एवं सामाजिक वातावरण : कैसे बेहतर बनाया जाए?”** इस परिचर्चाओं को शिक्षकों ने आत्म-मंथन के रूप में लिया। सम्मिलित निष्कर्ष यह निकला कि बेहतरी के इन प्रयासों में शिक्षकों की सक्रिय सकारात्मक भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रशासनिक एवं अन्य व्यवस्थाओं के सुधार हेतु

भी कई अच्छे सुझाव सामने आये। उनमें एक महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि नये शिक्षकों को विश्वविद्यालय के नियम कानून, उनके अधिकार, किस काम के लिए किससे मिलना है, आदि का समुचित ज्ञान कराया जाय। उनके कर्तव्यों के साथ-साथ उनके अधिकारों की भी स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए। दूसरा सुझाव था कि विश्वविद्यालय अधिकारियों एवं कर्मचारियों के लिए भी इस तरह की कार्यशालायें आयोजित होनी चाहिए।

प्रतिभागी शिक्षकों को इस कार्यशाला में भाग लेने के लिए शैक्षणिक एवं अन्य कार्यों से मुक्त नहीं किया गया था। अतः कई लोगों को इसके कारण परेशानी उठानी पड़ी थी। हमारा सुझाव है कि अगली कार्यशालाओं में शिक्षकों को अधिकारिक तौर पर नामित किया जाए और इस अवधि के लिए विभागीय कार्यों से मुक्त किया जाय ताकि वे सुविधा पूर्वक एवं पूर्णकालिक रूप से इस कार्यशाला में भाग ले सकें। तब हम इस कार्यशाला के कार्यक्रम को एक सप्ताह में पूरा कर सकेंगे। सम्प्रति कार्यशाला अंशकालिक (सायंकाल ३.३० — ६.४५) थी। अतः दो सप्ताह का समय लगा।

#### **1. विश्वविद्यालय के सभी वर्गों के विद्यार्थियों के लिए सामान्य एवं सघन कार्यशालाएं**

**अवधि — २५ सितम्बर से १५ नवम्बर, २००६**

**शीर्षक — ‘जीवन मूल्य एवं मानवीय क्षमताओं का विकास’**

इस कार्यशाला में ११३ प्रतिभागियों ने पंजीकरण कराया। जिसमें स्नातक, परास्नातक, शोध छात्रों के साथ-साथ कुछ विश्वविद्यालय के कर्मचारी भी थे। कार्यशाला में कुल २८ प्रस्तुतियां हुईं। अपने विश्वविद्यालय के विभिन्न संकायों के १५ वरिष्ठ शिक्षकों द्वारा ये प्रस्तुतियां दी गयीं। चार अतिथि व्याख्यान भी हुए। जिनमें भारतीय प्रशासनिक सेवा के आई.ए.एस. एवं आई.पी.एस. अधिकारियों ने अपने कार्यक्षेत्र से जुड़े

अनुभवों को छात्रों के साथ बांटा। कार्यशाला प्रतिदिन शाम को २ घण्टे, ५ बजे से ७ बजे तक, चलती थी।

इस कार्यशाला से चयनित ३१ प्रतिभागियों के लिए ६ नवम्बर से १५ नवम्बर तक एक सघन कार्यशाला का आयोजन किया गया। यह कार्यशाला कुल ११ दिन चली। जिसमें कार्य दिवस के दिन प्रतिदिन दो सत्र सायं ३.०० बजे से ६.४५ बजे तक एवं छुट्टी के दिन शनिवार एवं रविवार को पूरे दिन चार-चार सत्र चले। कुल २४ सत्र अर्थात् ३६ घंटे कार्यशाला चली। यह कार्यशाला एक संवादात्मक, प्रशिक्षण के रूप में चलती थी। जिसमें संवादकर्ता प्रतिभागियों के साथ निर्धारित विषय-वस्तु पर मिलजुल कर चर्चा करते थे। जिससे उस विषय के प्रति एक नयी समझ बनती थी। सघन कार्यशाला सामान्य कार्यशाला से भी अधिक प्रभावी रही। कार्यशाला के अंत में प्रतिभागियों ने कार्यशाला का मूल्यांकन किया। इस मूल्यांकन से निम्नलिखित बिन्दु प्रमुख रूप से सामने आए।

- कार्यशाला में जीवन मूल्य और मानवीय क्षमताओं के विविध आयामों पर गहराई से प्रकाश डाला गया तथा चर्चा के बिन्दु बहुत ही जीवनोपयोगी थे।
- कार्यशाला में विषयों की प्रस्तुति दो तरह से हुई। पहला, सैद्धान्तिक ज्ञान के आधार पर और दूसरा व्यावहारिक ज्ञान एवं यथार्थ से जुड़े अनुभव के आधार पर।
- अभ्यास सत्रों में अपने आप से परिचय स्वयं को जानने के लिए लाभदायक था।
- व्यावहारिक अनुभव व जीवन से जुड़ी घटनायें प्रेरणाप्रद थीं।
- प्रतिभागियों ने यह स्वीकार किया हम अपने अन्दर कुछ परिवर्तन व साहस का अनुभव कर रहे हैं।
- सघन कार्यशाला की संवादात्मक प्रक्रिया विषय को समझने व आत्मसात करने में ज्यादा सहायक रही।

● यह कार्यशाला मूल्यों के व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करने में ज्यादा सहायक सिद्ध हुई।

## 5. विशिष्ट अतिथि व्याख्यान –

(i). प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एवं चिंतक डॉ० भरत झुनझुनवाला (नई दिल्ली)

विषय – ‘आधुनिक बाजारवाद के सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्ष’

तिथि – २२ नवम्बर, २००६ (गुरुवार)

### व्याख्यान का सार-संक्षेप –

- बाजार सदैव रहा है। मनुस्मृति एवं कौटिल्य अर्थशास्त्र दोनों ही बाजार-आधारित अर्थव्यवस्था पर टिके हुये हैं।
- प्रश्न यह है कि बाजार सर्वोपरि है अथवा किसी और सत्ता के आधीन है। पूँजीवाद की धारणा है कि बाजार सर्वोपरि है और इससे जनहित स्वयं स्थापित हो जाता है। यह Adam Smith की Wealth of Nations का संदेश है।
- भारतीय दृष्टि में धर्म का अर्थ पर नियंत्रण बताया गया है। अर्थात् बाजार पर जनहित का नियंत्रण होना चाहिए। बाजार से जनहित स्वतः नहीं स्थापित होता है।
- पश्चिमी कानून व्यवस्था में जनहित (Public Good) के नाम पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर सीमा बांधने की परम्परा है। यह अर्थ पर धर्म के नियंत्रण के समकक्ष है।
- पश्चिमी आर्थिक विचारधारा में आंतरिक विरोधाभास है। अर्थशास्त्र के अनुसार बाजार स्वतः जनहित स्थापित करता है। परन्तु कानून के अनुसार जनहित का अर्थ पर नियंत्रण होना चाहिए। दोनों दृष्टिकोणों में यह विरोधाभास ही वर्तमान की मूल समस्या है।
- प्रधानमंत्री जब कहते हैं कि १० फीसदी विकास दर का लक्ष्य है, तो वे परोक्ष रूप से बाजारवाद का समर्थन करते हैं। वे मान कर चलते हैं कि



तीव्र विकास दर से जनहित स्वयं हासिल हो जाएगा। परन्तु ऐसा नहीं है। तीव्र विकास के साथ-साथ बेरोजगारी एवं गरीबी का विस्तार हो सकता है।

समस्या यह भी है कि जनहित को कौन परिभाषित करेगा? गांधी ने रचनात्मक कार्यकर्ता को यह जिम्मेदारी सौंपी थी। भारतीय परम्परा ने नंगे फकीर को यह काम सौंपा था। पश्चिम ने यह कार्य राज्य को सौंपा है।

अतः हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला क्या धर्म का अर्थ पर नियंत्रण होना चाहिए? अथवा अर्थ स्वयं धर्म है? मेरी दृष्टि से धर्म का अर्थ पर नियंत्रण जरूरी है। दूसरा प्रश्न है कि धर्म या जनहित की परिभाषा कौन करे? पश्चिमी विचारधारा राज्य को यह जिम्मेदारी देती है। यह स्वीकार नहीं है, चूँकि जार्ज बुश और सद्दाम हुसैन दोनों ही जनहित के नाम पर राज्य कर रहे थे। यह कार्य वास्तव में फकीर द्वारा ही किया जा सकता है।

### (ii) साहित्य शिरोमणि डॉ० धर्मपाल मैनी

प्रधान सम्पादक – मानवमूल्य-परक शब्दावली का विश्वकोश एवं निदेशक, राष्ट्रीय मानव मूल्य संस्थान, चण्डीगढ़

**विषय** – 'आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में मूल्यों का विश्लेषण'

**तिथि** – २५ नवम्बर २००६ (शनिवार)

### (iii) श्री वरुण विद्यार्थी

समन्वयक, मानवोदय संस्थान, लखनऊ

**विषय** – 'जीवन मूल्य एवं सामाजिक परिवर्तन'

**तिथि** – २७ फरवरी २००७ (गुरुवार)

**व्याख्यान का सार-संक्षेप –**

वैश्वीकरण के इस दौर में सार्थक सामाजिक परिवर्तन एक चुनौती है जिसके लिए नई सोच और नई अवधारणाओं (PARADIGM SHIFT IN

THINKING) की आवश्यकता है।

इसके लिए हमें एक साधारण किसान परिवार की समस्याओं से जुड़े धरातलीय मुद्दों को समझकर लोक संस्थाओं के (पंचायती राज संस्थाओं, सहकारी समितियों एवम् स्वयं सहायता समूहों) समुचित विकास को प्रमुखता देनी होगी। सहभागिता, पारदर्शिता आधारित स्वप्रबन्धन की व्यवस्था को स्थापित करना होगा। इस प्रक्रिया में अनेक अन्तर्द्वन्द्व निहित हैं। इन द्वन्द्वों के निराकरण के लिए हमें भारतीय जीवन दर्शन से सीख लेते हुए, व्यावहारिक मुद्दों को एक नई दृष्टि से देखना आवश्यक है। ऐसा करने के लिए हमें अपनी व्यक्तिगत कमजोरियों पर पुनः आत्म-चिंतन करते हुए, जीवन के बृहद् लक्ष्यों की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया और बाधाओं को समझना होगा।

यह सम्भव है। जटिल समस्याएँ ही अवसर हैं आत्म विश्वास की परीक्षा के लिए, नई सोच व प्रक्रिया की स्थापना के लिए व ईश्वरत्व की ओर बढ़ने के लिए। जब-जब व्यक्तियों ने इस तथ्य को पहचानकर अपने कर्म और व्यवहार को सही रूप दिया है, तब-तब सार्थक सामाजिक परिवर्तन की एक लहर ने जन्म लिया है।

### 6. पावरग्रिड कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया के अधिकारियों के लिए कार्यशाला

**शीर्षक** – 'उत्कृष्टता की खोज : मानवीय मूल्यों की परिधि में (Human Values for Pursuit of Excellence)

**अवधि** – दिसम्बर ४ से ६, २००६

Participants were requested to give a short write up evaluating the whole programme. Feedback was received from eighteen participants. Their ranks are : DGM – 6; CM – 8; Manager – 4.

All the participants have highly appreciated the programme. The most commonly used

word for describing the programme is 'excellent'. Some other words are : outstanding, very good, very relevant, very useful, very much essential, very interesting, fantastic, etc. Some of the sentences used are :

- (i) I strongly recommend this programme to all executives.
- (ii) It is very useful for personal and organisational development.
- (iii) I cannot imagine anything better than this.
- (iv) There is no better place to talk about ethics and values than Kashi and BHU.

The course content, faculty, style of presentation, coordination and conduct of the workshop have all been rated very good.

Two important suggestions are :

- (i) Include a session on stress management.
- (ii) Include case studies of value related problems in work-life.

One area where some reservations have been expressed is accommodation and food. Although majority have found it satisfactory or good, five participants suggest improvement in the quality of food, cleanliness and room facilities.

#### 7. स्वामी विवेकानन्द जयन्ती (युवा दिवस) पर संगोष्ठी का आयोजन

**शीर्षक** - 'आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था को लोक कल्याणकारी बनाने में युवाओं की भूमिका'

**दिनांक** - १२ जनवरी २००७ (शुक्रवार)

केन्द्र प्रतिवर्ष स्वामी विवेकानन्द जी के जन्मदिन १२ जनवरी पर एक संगोष्ठी का आयोजन करता है। इस संगोष्ठी के माध्यम से युवाओं के साथ वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक एवं अन्य सभी

प्रकार की व्यवस्थाओं से जुड़े हुए प्रश्नों पर एक समाधानात्मक चिंतन प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। इस वर्ष संगोष्ठी का विषय 'आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था को लोक कल्याणकारी बनाने में युवाओं की भूमिका' से सम्बन्धित था और इस संगोष्ठी के मुख्य अतिथि थे प्रो० राम हर्ष सिंह 'पूर्व कुलपति' राजस्थान आयुर्वेदिक विश्वविद्यालय जोधपुर (राजस्थान)। मुख्यवक्ता के रूप में प्रो० रजनी रंजन झा राजनीति विज्ञान विभाग ने आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में विस्तृत विचार प्रस्तुत करते हुए उसके लोक कल्याणकारी स्वरूप और संविधान में वर्णित नीति-निर्देशक तत्वों के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था अपने मूल उद्देश्य से विचलित होकर गलत नेतृत्व के हाथों चली गयी और जिसका परिणाम यह हुआ है कि यह लोक कल्याणकारी दायित्व से हटकर अराजकता, भ्रष्टाचार एवं हिंसा का पर्याय बन गयी है। आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था को उसके मौलिक स्वरूप में लाने का दायित्व युवाओं पर है और युवा ही अपने कुशल नेतृत्व क्षमता के माध्यम से राजनैतिक व्यवस्था को लोक कल्याणकारी बना सकते हैं। युवा को अपने आपको इस दायित्व बोध हेतु परिमार्जित करना पड़ेगा।





अपने लोकतंत्र के स्वरूप का गहराई से अध्ययन करना पड़ेगा। विश्वविद्यालय एवं अन्य संस्थाओं को भी युवाओं के राजनैतिक व्यक्तित्व विकास हेतु आगे आना होगा।

## 8. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग आयोजित कार्यशालाओं का संक्षिप्त विवरण

### (i) बायोइथिक्स (BIOETHICS)

अवधि : दिसम्बर १८, २००६

इस कार्यशाला के मुख्य अतिथि के रूप में सेन्टर फार सेल्युलर एवं मालेकुलर बायोलोजी हैदराबाद के निदेशक पद्म श्री डॉ० लालजी सिंह ने आधुनिक जैव-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हो रहे विभिन्न नये अनुसन्धानों तथा इनसे होने वाले लाभों पर प्रकाश डालते हुए बताया कि जीनोम से संबंधित अनुसन्धानों का उपयोग मानवता के लाभ के लिए ही किया जाना चाहिए। हमें देखना होगा कि हमारे मानवीय मूल्यों पर, हमारे समाज पर इनका गलत प्रभाव न पड़े। 'मानव भ्रूण के जीनोम' के रूप को जानकर भ्रूण हत्याएँ हो रहीं हैं। उन्होंने कहा कि भ्रूण के जीनोम का सही आंकलन कर यह पता लगाया जा सकता है कि व्यक्ति को भविष्य में कौन सा रोग होगा। उन्होंने आगाह किया कि कानूनी तौर पर भ्रूण का जीन-आकलन सही है लेकिन नैतिक आधार पर हमारे समाज के लिए इसे मान्यता देना कहाँ तक उचित है? उन्होंने कहा कि आज बहुत से पौधे जिन्हें ट्रान्सजेनिक पौधे कहते हैं, उनमें मांसाहारी जीवों के भी जीन डाल दिये जाते हैं, ऐसे पौधे हमारे शाकाहारी समाज के नैतिक मूल्यों पर आघात पहुँचाते हैं। मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र के समन्वयक प्रो० सिद्धनाथ उपाध्याय ने मुख्य अतिथि तथा अन्य प्रतिभागियों का स्वागत किया। प्रो० अजित नारायण त्रिपाठी ने

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र की गतिविधियों पर प्रकाश डाला। कार्यशाला के संयोजक प्रो० रमाशंकर दूबे ने कार्यशाला के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा कि आज जैव तकनीकी द्वारा कृषि, औषधि तथा आधुनिक विज्ञान के क्षेत्रों में अबाध प्रगति हुई है। लेकिन भारत जैसे विकासशील देश के लिए इन विकसित साधनों को सूझ-बूझ से ग्रहण करने की आवश्यकता है, ताकि हमारे मानवीय और सामाजिक मूल्यों पर आघात न हो। अंत में धन्यवाद ज्ञापन डॉ० सुनील कुमार सिंह ने किया।

### (ii) पर्यावरण आचारशास्त्र (ENVIRONMENTAL ETHICS) पर दो दिवसीय कार्यशाला-सह-संगोष्ठी का आयोजन

अवधि : मार्च १७-१८, २००७

#### कार्यशाला की संक्षिप्त रपट -

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र द्वारा बिगड़ते पर्यावरण और परिस्थितिकी असन्तुलन के समाधान हेतु दो दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया गया। इस कार्यशाला के मुख्य अतिथि श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली के कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय थे और मुख्य वक्ता प्रसिद्ध पर्यावरण चिंतक प्रो० गुरुदास अग्रवाल (आई० आई० टी० कानपुर) थे। इस संगोष्ठी में लगभग २० शोध पत्र पढ़े गये और १० विशिष्ट विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किये। इस संगोष्ठी के माध्यम से यह प्रयास किया गया कि आज के पर्यावरण से सम्बन्धित समस्या के समाधान हेतु क्या शैक्षणिक पाठ्यक्रम विकसित किया जाय जो भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के अनुरूप हो और जिसे पढ़ कर नई पीढ़ी अपने पर्यावरणीय दायित्व को पूरा करने हेतु प्रेरित हो। इस उद्देश्य प्राप्ति की दृष्टि से यह कार्यशाला सफल रही। ●

## ‘डिबेट सोसाइटी’, एक प्रयास विकास की ओर

डिबेटर ‘श्रीधर’

भूमण्डलीकरण के इस सर्वग्रासी दौर में जब हर चीज बाजार के पैमाने पर आँकी जा रही है, संस्कार निर्माण वाली शिक्षा की जगह रोजगार परक व्यावसायिक शिक्षा का ही प्रचलन हावी होता चला जा रहा है। ऐसे क्षण में आज की युवा पीढ़ी के लिए खुद के प्रति दायित्व व चुनौतियाँ बढ़ गई हैं।

वस्तुतः युवा ही राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति हैं। जिनके कन्धों पर देश की दशा और दिशा टिकी होती है। जरूरत है तो युवाओं को एकजुट होने की तथा अपनी ऊर्जा व सामाजिक भूमिका को जानने समझने की, जिससे वे साम्प्रदायिकता तथा अन्य किसी तरह के असामाजिक व अहितकारी शक्तियों को निष्क्रिय कर सकें। इस सन्दर्भ में बनारस में चर्चित ‘डिबेट सोसाइटी’ नामक युवा संगठन का प्रयास वास्तव में प्रशंसनीय है।

‘डिबेट सोसाइटी’ नामक युवा संगठन की नींव अक्टूबर २००२ को ४ कुशल व उत्साही युवकों द्वारा हबीबपुरा की तंग गलियों के एक छोटे से कमरे में रखी गयी। जिसको उन ४ उत्साही युवकों ने समसामायिक विषयों पर केन्द्रित एक विचार-विमर्श के केन्द्र के रूप में स्वीकार किया। जहाँ पर साप्ताहिक गोष्ठी आयोजित होती थी और तात्कालिक समस्याओं, घटनाओं पर आपसी बहस व अध्ययन के माध्यम से वे अपना ज्ञानवर्धन कर रहे थे। एक-एक कर वह संख्या बढ़ती गयी। विभिन्न विश्वविद्यालयों के छात्र-छात्राएँ उससे जुड़ते गये। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह संख्या आज ४ से बढ़कर ६० तक पहुँच गयी है। इसी संख्या को एक सशक्त संगठन के रूप में स्वीकारते हुए उन लोगों ने सर्वसम्मति से इस संगठन का नाम

‘डिबेट सोसाइटी’ रखा। जिसमें लोग एक दूसरे को उनके नाम के साथ डिबेटर जोड़कर सम्बोधित करते हैं।

धीरे-धीरे ‘डिबेट सोसाइटी’ लीक से हटकर एक प्रयोग बनने लगी। डिबेट सोसाइटी के डिबेटर्स ने घूमने, टहलने, गप्पे लड़ाते रहने के बजाय मिलजुल कर दुनियाँ के गति विज्ञान के बहसों को एक ठोस आयाम देने की कोशिश की। उन्होंने एक दिन या एक वर्ष में महान बन जाने की आशा न रखी। उन्होंने साहस किया, विकास की एक समान गति बनाये रखने के आदर्शों पर दृढ़ रहने का। परस्पर स्वार्थपरता और ईर्ष्या को कभी स्थान नहीं दिया वरन एक दूसरे की शक्ति के स्रोत बने। आज डिबेट सोसाइटी एक संगठन के रूप में एक मौलिक प्रयोग है, प्रक्रिया है और इन सबसे बढ़कर एक प्रयास है; प्रतिभायुक्त, ऊर्जावान तथा बौद्धिक रूप से सशक्त एवं समृद्ध विचारकों की एक ऐसी शृंखला तैयार करने का जिनकी नींव पर एक सर्वसम्मत व समृद्ध व्यवस्था की परिकल्पना साकार हो सके।

अब प्रश्न यह उठता है कि उस समूह को एक संगठन का रूप देने की आवश्यकता क्यों पड़ी? चूँकी संगठन के सारे सहभागी विद्यार्थी हैं और उनकी गतिविधियाँ मूलतः शैक्षणिक हैं; लिहाजा उनके प्रयासों ने उनके सम्पर्क में आने वाले युवा वर्ग और विशेषकर छात्र-छात्राओं को अपनी ओर आकर्षित किया। एक-एक कर कड़ी जुड़ती गयी और एक शृंखला तैयार हो गयी। अब इस बड़े समूह में व्यवस्था बनाये रखने का प्रश्न उठा। इस बड़ी संख्या को स्वनियन्त्रित एवं संचालित होने के लिए समूह को एक अनुशासित संगठन में परिवर्तन करना, उनकी स्वाभाविक आवश्यकता बन गयी।



इन सारे लोगों ने मिलकर स्वयं एक नियमावली तैयार की और उसे संगठन के संविधान के रूप में अपनाया।

इनका यह विश्वास भी कि एक बड़े समूह में अनुशासित होकर किया गया प्रत्येक कार्य, प्रत्येक अंग संचालन और प्रत्येक विचार हर एक के चित्त पर गहरा संस्कार छोड़ जाता है; ने संगठन तैयार करने की इनकी सोच को और बल दिया। इन लोगों के द्वारा इस संगठन का नाम रखा गया 'डिबेट सोसाइटी' जो सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो महज एक संगठन है; परन्तु व्यावहारिक अर्थों में एक बड़े समूह में संगठित होकर कुछ रचनात्मक किये जाने का एहसास भी है। इस जीवट एहसास का प्रमाण है बनारस से सटा एक गाँव 'डिहवा'।

अपने ५ वर्षों के बौद्धिक कसरत और मजबूत संगठन के साथ इन लोगों ने एक व्यवहारिक प्रयोग किया और अपने आप को वास्तविकता की कसौटी पर परखना शुरू किया, संसाधन सीमित थे और इरादे बुलन्द। २६ जनवरी २००६ को विद्यापीठ ब्लाक के डिहवा गाँव में इन लोगों ने शंखनाद किया और संकल्प किया कि 'समाज में अब केवल दो ही बिरादरी होगी..... शिक्षित और अशिक्षित। इनके अतिरिक्त तीसरी कोई बिरादरी नहीं होगी'। इन्होंने सुन रखा था कि इरादे नेक हों तो हर मुश्किल आसान हो जाती है। इन लोगों ने लगभग ५९ बच्चों के साथ डिहवा की मलिन बस्ती में निःशुल्क शिक्षा पर काम किया।

इन्होंने पाया कि न सिर्फ उन बच्चों के व्यवहार में गुणात्मक परिवर्तन हुए, बल्कि कुछ ही महीनों में इनके शिक्षा केन्द्र पर पहुंचने वाले बच्चों की संख्या आश्चर्यजनक रूप से एक सौ के आंकड़े को छू गयी। इनके प्रयास को अर्थ मिला। ये उत्साहित थे और इन्होंने इस प्रयास को एक वृहद स्वरूप देने का निर्णय लिया। पिछले लगभग पाँच

वर्षों में दो सौ से अधिक औपचारिक गोष्ठियों और अनगिनत अनौपचारिक बहसों के माध्यम से इन्होंने विषय-वस्तु की समझ पैदा करने की समानान्तर कोशिश जारी रखी। इन्होंने ऊर्जावान व बहुआयामी प्रतिभावान युवाओं का संगठन खड़ा कर एक यथा सम्भव श्रेष्ठ आदर्श स्थापित किये, जिसके मूल में बौद्धिक रूप से सशक्त राष्ट्र और समाज का निर्माण था। इन्होंने विकास की एक समान गति बनाये रखी और उपर्युक्त विषय पर अनुसन्धान व शोध जारी रखकर इस आदर्श पर दृढ़ रहे। आदर्श के प्रति निष्ठा ने इन्हें नवीन दृष्टि दी परिणामस्वरूप इस सर्वश्रेष्ठ सम्भव आदर्श के मूल में इन्हें दिखी दो इकाइयाँ -

**'युवा चेतना' और 'ग्राम विकास'**

आदर्श निश्चित था, अब मार्ग भी तय हो गया। इन्होंने इन दो इकाइयों पर कार्य करने का व्रत लिया। इन्होंने उच्च स्वर से इन महामन्त्रों की घोषणा की-

**साधन ! स्वाध्याय ! स्वावलम्बन !**

साधना और स्वाध्याय के माध्यम से इन लोगों ने युवा-चेतना के खंगालने का व्रत लिया तथा स्वावलम्बन केन्द्रित ग्राम विकास का लक्ष्य रखा। परिणाम स्वरूप इनके मानस पटल पर एक परिकल्पना उभरकर आयी। परिकल्पना एक छोटे से भूखण्ड पर अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ सम्भव आदर्श की प्राप्ति हेतु अनवरत अभ्यासरत युवाओं की एक छोटी सी दुनिया स्थापित करने की; जिसे इन्होंने 'सेवाव्रत' की संज्ञा दी। जिस पर काम शुरू है। लक्ष्य है प्रति जनपद ५०० योग्य विद्यार्थियों का चयन तथा उन्हें मूल्य आधारित, संस्कारित व आधुनिक शिक्षा प्रदान करना। तथा प्रति जनपद ५०० निर्धन परिवारों का चयन तथा प्रत्येक परिवार के लिए एक रोजगार उपलब्ध कराना।

अब 'डिबेट सोसाइटी' को जरूरत है तो बुजुर्गों

के सहयोग और युवाओं की सहभागिता की.....। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रयास के मूल प्रेरणा स्रोत पूज्य महामना मालवीय जी व उनके विचारों से प्रेरित संस्था मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र है।

इस केन्द्र द्वारा युवाओं के समन्वित व्यक्तित्व विकास हेतु विभिन्न कार्यशालायें आयोजित की जाती हैं। इन कार्यशालाओं में भागीदार बनने वाले युवाओं को अन्दर ही अन्दर नई ऊर्जा, उत्साह, सेवा-साधन व स्वावलम्बन की प्रेरणा मिलती है। ●

### **मालवीय जी द्वारा १९११ में प्रकाशित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रस्तावना के कुछ अंश**

व्यक्ति और समुदाय दोनों के हित के लिए बौद्धिक विकास से भी अधिक महत्वपूर्ण है, चारित्रिक विकास।..... केवल आर्थिक-औद्योगिक प्रगति से ही किसी देश में खुशहाली और समृद्धि नहीं आती।..... अंग्रेजी के एक प्रतिष्ठित लेखक ने ठीक ही लिखा है: "सच्चरित्र व्यक्ति में मानव स्वभाव का सर्वोच्च रूप दिखायी देता है। उसी में नैतिक विधान अपना मूर्त रूप लेता है। वे ही किसी समाज की नैतिक अंतरात्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। सच्चरित्र व्यक्ति ही एक सुवस्थित समाज की उत्प्रेरक शक्ति होते हैं, क्योंकि नैतिक मूल्य मर्यादाओं से ही विश्व का संचालन होता है। किसी देश की शक्ति, उसके उद्योग-धंधे और आर्थिक क्षमता, तथा उसकी सभ्यता, ये सभी उसके सदस्यों के व्यक्तिगत चरित्र पर निर्भर करते हैं। वही नागरिकों की सुरक्षा का सशक्त आधार है। समाज की विधि व्यवस्था तथा अन्य सामाजिक संस्थाएं इसी आधार पर स्थापित और विकसित होती हैं।"

उसी लेखक ने अन्यत्र एक और सटीक टिप्पणी की है :

"प्रतिभाशाली लोगों की प्रशंसा सभी करते हैं, पर सम्मान तो मुख्यतः चरित्रवान लोगों को ही मिलता है। पहले प्रकार की प्रतिभा का स्रोत बुद्धि होती है और दूसरे का हृदय; और अंततः हमारे जीवन का संचालन हृदय से ही होता है।"

विश्वविद्यालय की शिक्षा अधूरी ही रह जाएगी यदि वह केवल बौद्धिक क्षमताओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेगी। उसे पूर्णता तब मिलेगी जब वह हृदय से उद्भूत होने वाली मानवीय एवं नैतिक भावनाओं के विकास पर भी उतना ही ध्यान दें, जितना कि बौद्धिक विकास पर।

अतः प्रस्तावित विश्वविद्यालय का एक प्रमुख लक्ष्य होगा युवाओं के चरित्र को सुन्दर और सबल बनाना। यहाँ से छात्र केवल इंजीनियर, वैज्ञानिक, चिकित्सक, व्यापारी और शास्त्रवेत्ता बनकर ही नहीं निकलेंगे, वरन् वे ऐसे मनुष्य बन कर निकलेंगे कि जिनके जीवन और आचरण को देख कर यह भान होगा कि इन पर एक महान विश्वविद्यालय की छाप पड़ी है। ●

**चरित्र-निर्माण का कार्य आज तक हमने केवल परिवार, स्कूल और धर्म पर छोड़ रखा था। अब यह पर्याप्त नहीं है। बहुत कम परिवार ऐसे हैं जिन्हें नैतिक प्रशिक्षण की विधि ज्ञात है। जीवन जीने की कला सिखाने का दायित्व विद्यालयों ने त्याग दिया है तथा लाखों लोग धार्मिक स्थान के निकट फटकते तक नहीं। अगर समाज को निजी स्वार्थ से बचाना है तो मनुष्य को एक नई कला में प्रवीण बनना होगा।**